प्राचीन भारत में सम्प्रभुता का विकास

वैदिक काल से गुप्त काल तक
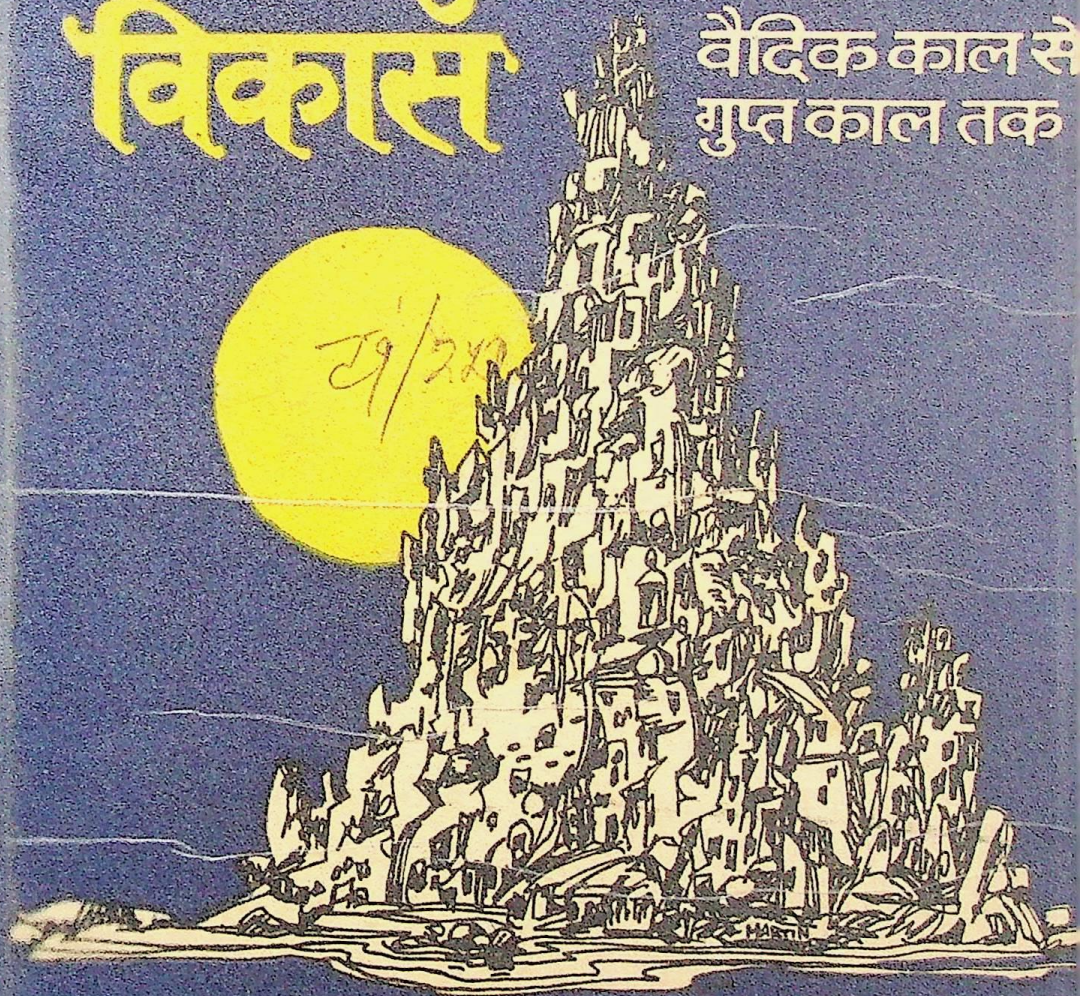
राकेश शर्मा

पुस्तक के विषय में :

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में सम्प्रभुता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतीय अवधारणा तथा आधुनिक अवधारणा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। आधुनिक प्रणाली में सम्प्रभुता के विषय में एक सर्वमान्य मत यह है कि सम्प्रभुता जनता में निहित होती है। साम्यवादी व प्रजातान्त्रिक दोनों प्रकार की शासन प्रणालियां सम्प्रभुता को जनता में स्वीकार करती है, लेकिन शासन के व्यावहारिक रूप से संचालन के लिए जनता व्यस्क मताधिकार के आधार पर अपने प्रतिनिधियों का निर्धारण करती है। प्राचीन भारत में सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणाएं ऋग्वैदिक काल में विकसित हो चुकी थीं। ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण की संरचना के समय की अवधारणाओं और आधुनिक अवधारणा में कुछ भी अन्तर न था, यह कहना तो हठ-धर्मिता ही होगी। यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में जनता के विधायिका सम्बन्धी अधिकार अत्यन्त सीमित थे। प्राचीन काल में अपने देश में राजतन्त्रात्मक पद्धति का बोलबाला रहा है। किन्तु राजा के निरंकुश अधिकारों पर सदैव नियन्त्रण लगाने का भी प्रयास हुआ। इससे प्रमाणित होता है—सम्प्रभुता का निवास जनता में ही था। प्रस्तुत ग्रन्थ में यही सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

प्रकाशक :

डिप्टो पब्लिकेशन

121-A, पाकेट B, ग्रुप-IV, दिलशाद गार्डन,

दिल्ली-110 095

प्रथम संस्करण : 1990, अगस्त

मूल्य : 175.00 रुपये

मुद्रक :

लखेड़ा प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-110 053.

आमुख

सम्प्रभुता सम्बन्धी प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा डा० राकेश शर्मा ने प्राचीन भारतीय राजनीति चिन्तन के क्षेत्र में हिन्दी भाषा-भाषी पाठकों के लिए एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। आंग्ल भाषा में कुछ ग्रन्थ पहले लिखे गये और डा० शर्मा ने विनम्रता पूर्वक स्वीकार किया है कि जो कुछ भी कार्य इस विषय पर किया गया, उससे उन्हीं काफी सहायता मिली है।

डा० राकेश शर्मा ने अत्यन्त कुशलता के साथ यह सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन भारत में भी सम्प्रभुता का निवास जनता में ही निहित थी। इस ग्रन्थ को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सात अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय में स्रोत-सामग्री का विस्तृत विवेचन है। ऐसा सोचना और मानना कि प्राचीन भारत में राजनीति-चिन्तन की दिशा में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया, भ्रामक ही है। प्राचीन काल में राजनीति-शास्त्र को राजशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजधर्म आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में 'विद्या' के विभाजन में दण्डनीति को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लेख आया है कि दण्ड द्वारा अदान्त लोगों का दमन किया जाता है। अराजकता को रोकने तथा आर्थिक संरक्षण प्रदान करने के लिए जिस मर्यादा की स्थापना की गयी थी, प्राचीन काल में उसी को दण्ड कहते थे। मनु ने तो यहां तक लिखा है कि दण्ड ही धर्म और राजा है।

द्वितीय अध्याय में सम्प्रभुता का अध्ययन 'अतीत और वर्तमान' सन्दर्भ में किया गया है। प्राचीन अवधारणा के प्रसंग में वैदिक काल का उल्लेख करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वास्तविक सम्प्रभु प्रजा ही थी। परन्तु वह अपनी सुविधा के लिए राजा को अपने अधिकारों से सुसज्जित कर देती थी। वैदिक काल की सभा और समिति नामक दो लोक-प्रिय संस्थाओं से ध्वनित होता है कि प्रजा के प्रतिनिधियों का राजा के ऊपर पर्याप्त अंकुश था। महाकाव्यों के काल में भी अनेक ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं, जिनसे बोध होता है कि सम्प्रभुता का निवास जनता में ही था। महा-जनपदों के काल में जब मगध का उत्कर्ष हुआ और विशाल साम्राज्यों की स्थापना हुई, तो यह भ्रम उत्पन्न हुआ कि सम्प्रभुता राजा में निवास करने लगी है। किन्तु यह धारणा भ्रमात्मक है। प्राचीन भारत में अन्तिम रूप से सम्प्रभुता प्रजा में ही निहित रही है।

तृतीय अध्याय में वैदिक काल में सम्प्रभुता के स्वरूप, विकास एवं अव-धारणा पर गहन रूप से विचार किया गया है। सभा और समिति के राजनीति महत्व को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

चतुर्थ अध्याय प्राग—मौर्यकाल में सम्प्रभुता एक विवेकपूर्ण अध्ययन है। रामायण—महाभारत तथा बौद्धकालीन शण राज्यों के सम्बन्ध में विचार करते हुए सम्प्रभुता के स्वरूप और उससे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों की समीक्षा की गयी है। मगध में साम्राज्यवाद का जब उत्कर्ष हुआ, और उस समय सम्प्रभुता के के सम्बन्ध में जो विभिन्न विचार विद्यमान थे, उनका भी विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

पंचम अध्याय में मौर्यकाल में सम्प्रभुता का विस्तृत अध्ययन है। मौर्य शासक नन्दवंश का पतन देख चुके थे, अतः उन्होंने प्रजा का कल्याण अपना सर्वोच्च उद्देश्य स्थिर किया था। इतिहास साक्षी है कि जब तक मौर्य शासकों ने प्रजा का हित चिन्तन किया, उनका साम्राज्य सुरक्षित बना रहा किन्तु महान अशोक के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी प्रजाहित से विमुख हो गये थे। अतः मौर्य साम्राज्य का पतन स्वाभाविक हो गया।

पष्ठ अध्याय में गुप्तकाल में सम्प्रभुता का विशद अध्ययन किया गया है। मौर्य शासकों की भांति गुप्त शासकों की स्थिति भी कूट-स्थानीय थी। गुप्त नरेश प्रजा का कल्याण अपना परम् कर्तव्य मानते रहे। शासन में सर्वोच्च स्थिति रखते हुए भी वे अपने को प्रजा के प्रति उत्तरदायी मानते थे।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल से गुप्तकाल तक सम्प्रभुता का निवास जनता में ही रहा है। यदा-कदा राजा शक्तिशाली अवश्य हुए हैं, किन्तु यह मानना कि सम्प्रभुता उनमें निहित रही, ऐसी अवधारणा निरर्थक है।

डा० विनोदचन्द सिन्हा
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

'प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग'
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय शासन पद्धति का अध्ययन करते समय मेरा ध्यान सदा ही इस ओर आकृष्ठ होता रहा कि प्राचीन काल में सम्प्रभुता सम्बन्धी क्या अवधारणायें थी तथा वह कहां अधिष्ठित थी । आधुनिक प्रणाली में सम्प्रभुता के विषय में एक सर्वमान्य मत यह है कि सम्प्रभुता जनता में निहित होती है। साम्यवादी व प्रजातान्त्रिक दोनों प्रकार की शासन प्रणालियां 'सम्प्रभुता' को जनता में स्वीकार करती है, लेकिन शासन के व्यावहारिक रूप से संचालन के लिये जनता व्यस्क मताधिकार के आधार पर अपने प्रतिनिधियों का निर्धारण करती है तथा एक निश्चित अवधि के लिये उन निर्वाचित प्रतिनिधियों को अपने अधिकार सौंप देती है । प्राचीन भारत में सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणायें ऋग्वैदिक काल में विकसित हो चुकी थी। ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण की संरचना के समय सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणा और आधुनिक अवधारणा में कुछ भी अन्तर न था यह कहना तो मात्र हठधर्मिता ही होगी । यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में जनता के विधायिका सम्बन्धी अधिकार अत्यन्त सीमित थे। इसके विपरीत आधुनिक काल में जनता समस्त कार्यों के संचालन के लिये अधिक से अधिक विधायिका पर निर्भर करती है। परन्तु सम्प्रभुता का निवास जनता में ही था। प्रस्तुत निबन्ध में यही सिद्ध करने का स्वल्प प्रयास किया गया है।

इस सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सात अध्यायों में विभाजित किया गया। प्रथम अध्याय में विभिन्न स्रोत सामग्री का विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय में सम्प्रभुता की प्राचीन तथा आधुनिक अवधारणों का विवेचन सम्प्रभुता की विशेषताओं तथा उसके प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। इसी अध्याय में सम्प्रभुता के निवास के सम्बन्ध को भी स्पष्ट किया गया है। तृतीय अध्याय में वैदिक युग की शासन संस्थाओं का अध्ययन करते हुये सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणाओं को स्पष्ट किया गया है। चतुर्थ अध्याय में महाकाव्यों के काल के अन्तर्गत रामायण तथा महाभारत में सम्प्रभुता की अवधारणा को दर्शाया गया है। इसी अध्याय में प्राग-मौर्य काल के गणराज्यों का विवेचन करते हुये सम्प्रभुता की अवधारणा को आंका गया है। साथ ही मगध में साम्राज्यवाद के काल में सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणायें स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। पंचम अध्याय में मौर्य राजवंश का परिचय देते हुए

सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणाओं का विवेचन किया गया है। छठे अध्याय में गुप्त राजवंश का परिचय और तत्कालीन नवीन घटना सामन्तपद्धति का विकास को स्पष्ट करते हुये तत्कालीन समय की सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणाओं को स्पष्ट किया गया है। सप्तम तथा अन्तिम अध्याय में शोध-प्रबन्ध की समीक्षा की गई है।

मैं अपने विद्वान निर्देशक श्रद्धेय गुरुवर डा० विनोदचन्द्र सिन्हा, अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के प्रति कृतज्ञतापूर्वक आभार प्रदर्शन करता हूं जिनकी अगाध विद्वता और असाधारण स्नेह से प्रेरणा पाकर ही मैं यह कार्य पूर्ण करने में समर्थ हो पाया। मैं यह स्पष्टतः स्वीकार करता हूं कि गुरुवर ने कुशल निर्देशन के अतिरिक्त मुझे वह अपरिमित स्नेह व मार्गदर्शन दिया जिसके अभाव में यह कार्य पूर्ण होना सम्भव न था। प्रस्तुत निबन्ध में जो भी लाभप्रद दे पाया हूं, या नवीन मान्यता दे पाया हूं वह गुरुवर की ही मार्गदर्शिता है। यदि कहीं पर भी कोई त्रुटि रह गई है, उसके लिये व्यक्तिगत रूप से मैं स्वयं ही उत्तरदायी हूं।

परमादरणीय श्रीयुत बलभद्रकुमार हूजा, कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार को धन्यवाद अर्पित करना अपना प्राथमिक कर्तव्य मानता हूं।

श्रद्धेय गुरुवर डा० जबरसिंह सैंगर, कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार को धन्यवाद प्रेषित करना मेरा अकादमिक कर्तव्य बनता है जिन्होंने समय-समय पर मेरा न केवल उत्साह वर्धन किया अपितु सतत् परिश्रम की प्रेरणा भी मुझे उन्हीं से मिली। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आदरणीय डा० श्याम नारायण सिंह, उप-कुलसचिव एवं प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार का धन्यवाद प्रेषित करना आवश्यकता से परिपूर्ण मानता हूं। जिन्होंने समय-समय पर इस कार्य की पूर्णता के निमित्त मेरी मदद की।

मैं उन समस्त विद्वानों का हृदय से कृतज्ञ हूं जिनके प्रकाशित ग्रन्थों की सहायता प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में ली गई है।

इस शोध प्रबन्ध के लिए जिन विभिन्न पुस्तकालयों व संस्थाओं का उपयोग मैंने किया है उनके अधिकारियों तथा कर्मचारियों का आभार प्रकट करना मेरा कर्तव्य बनता है। उन सबको धन्यवाद प्रेषित।

मैं अपने उन समस्त मित्रों एवं शुभचिन्तकों का भी आभार प्रकट करना चाहूँगा जिन्होंने इस कार्य को पूर्ण करने में मेरी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की।

मैं अपने परमादरणीय नाना जी पं० प्रेमचन्द्र पुरोहित एवं नानी जी श्रीमती शोभा देवी का किन शब्दों में धन्यवाद प्रेषित करूं जिनके चरणों में रह कर यह कार्य सम्पन्न हो सका। इसी प्रकार पूज्य पिता श्री चन्द्रप्रकाश शर्मा, एडवोकेट एवं माताश्री के विषय में क्या लिखूं। इसी श्रेणी में पूज्य मामाजी डा० विजेयेन्द्र शर्मा, प्राचार्य, जवाहरलाल नेहरू डिग्री कालेज हरिद्वार का आभार प्रकट करने के लिये शब्दों के चयन में स्वयं को असमर्थ पाता हूं। इन सबके चरणों में नतमस्तक होना ही उचित जान पड़ता है।

और अन्त में मैं अपने प्रकाशक, श्री टी० सी० अरोड़ा एवं संजय अरोड़ा डिप्टी पब्लिकेशन का भी आभार प्रकट करना चाहूंगा जिन्होंने कम समय में मेरे इस कार्य का प्रकाशित किया।

—**राकेश शर्मा**

विषय सूची

अध्याय 1

स्त्रोत सामग्री

प्राचीन भारत में लोगों का आकर्षण धर्म, दर्शन, अध्यात्मवाद एवं चिन्तन की ओर रहा। संसार की इहलौकिक उन्नति के साथ-साथ उन्होंने राजनीतिक चिन्तन पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। राजधर्म, राजशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र इत्यादि नामों से 'राजनीतिशास्त्र' को सम्बोधित किया गया।[1] प्राचीन भारत में सामान्यतः नृपतंत्र का राजतन्त्र प्रचलित था। इसलिये शासनशास्त्र को राजधर्म या राज्यशास्त्र के नामों से पुकारा गया।

कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में विविध विद्याओं का विभाजन इस प्रकार से किया है—'आन्वीक्षिकी। त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, ये चार विद्यायें हैं।[2] 'आन्वीक्षिकी' विद्या, सांख्य, योग और लोकायत दर्शनों को कहते हैं। ऋक, यजु और साम वेदों को 'त्रयी' कहा गया है। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को 'वार्ता,। आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता का योगक्षेत्र 'दण्ड' पर ही निर्भर करता है। जो प्राप्त न हो, उसे प्राप्त करना, प्राप्त हुये की रक्षा करना, रक्षित की वृद्धि करना और बढ़ी हुई सुख-समृद्धि को यथायोग्य स्थानों एवं पात्रों में प्रयुक्त करना दण्डनीति का कार्य है। लोकयात्रा-दण्डनीति पर निर्भर करती है।[3] शुक्र ने भी 'शुक्रनीतिसार' में उल्लेख किया है कि ब्रह्मा द्वारा रचित राज्यशास्त्र के सार को विशिष्ठ और मेरे जैसे अन्य लेखकों ने पृथ्वी के शासकों तथा अन्य व्यक्तियों की समृद्धि के लिए संक्षिप्त किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि राजा को यत्नपूर्वक नीतिशास्त्र का अभ्यास करना चाहिये। इस शास्त्र के ज्ञान से राजा सुन्दर नीति में कुशल होता है। इसके बिना राजा प्रजा के पालन और दुष्टों के दमन में समर्थ नहीं हो सकता।[4]

महाभारत के शान्तिपर्व में दण्ड और दण्डनीति के प्रकरण को इस प्रकार

---

1. सदाशिव राव अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 1।
2. कौटिल्य-अर्थशास्त्र, 1/1।
3. कौटिल्य-अर्थशास्त्र, 1/3 ज्ञ।
4. शुक्रनीति, अध्याय 1 श्लोक 4-7।

स्पष्ट किया है : 'दण्ड द्वारा अदान्त लोगों का दमन किया जाता है। अतः दमन करने और दण्डित करने के कारण दण्ड शब्द का प्रयोग विद्वानों द्वारा किया जाता है। मनुष्यों में अव्यवस्था को रोकने तथा आर्थिक संरक्षण प्रदान करने के लिये मर्यादा की स्थापना की गई, जिसे दण्ड कहते हैं।[5] दण्डनीति के महत्त्व को बताने के लिए दण्डनीति के अभिप्राय को इस प्रकार से स्पष्ट किया है : 'दम या मर्यादा का नाम दण्ड है। इसी कारण राजा को भी दण्ड कहते हैं।[6] मनु के अनुसार दण्ड ही धर्म और राजा हैं। इसके द्वारा ही वह प्रजा की रक्षा करता है और चारों आश्रमों में सभी व्यक्तियों से अपने अपने कर्तव्यों का पालन कराता है। जब सब सोये रहते हैं, दण्ड जागता रहता है। 'त्रिवर्ग से दण्डनीति का सम्बन्ध है' के अन्तर्गत दीक्षितार ने लिखा है : 'दण्डनीति को ठीक ही त्रिवर्ग—विद्या अर्थात् जीवन के तीनों उद्देश्यों का शास्त्र कहा गया है। त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम हिन्दू समाजशास्त्र के पुरुषार्थ हैं और राजधर्म इनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। इन पुरुषार्थों में धर्म सर्व प्रधान है। दण्डनीति, घोड़े की लगाम अथवा हाथी के अंकुश की भांति, चारों वर्णों के मनुष्यों को धर्म-मार्ग में रखने वाली है। त्रिवर्ग के साथ मोक्ष जोड़ देने पर जीवन के चारों ध्येय चतुवर्ग कहलाते हैं। जिससे कि इन चारों की बेरोक वृद्धि हो सके। दण्ड का उचित रूप से प्रयोग किया जाना आवश्यक है और दण्ड के प्रभावी बनाने के लिये उसका प्रयोग पूर्ण औचित्य से किया जाना चाहिये अन्यथा, जैसा ऐतिहासिक नाटक 'मुद्राराक्षस' में कहा गया है, 'दुर्नय अर्थात् बुरी नीति से त्रिवर्ग के सिद्धान्तों का ही उन्मूलन हो जायेगा।[7]

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों के दृष्टिकोण में दण्डनीति, अर्थशास्त्र एवं राजधर्मशास्त्र का महत्व बहुत अधिक था। प्राचीन हिन्दुओं ने अपने धर्मग्रन्थों में तथा अन्यत्र भी राजा, सभा, समिति एवं राज्य सम्बन्धी अनेक विषयों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। प्रायः सभी विचारकों ने राज्य व शासन की परम आवश्यकता को माना है और अराजकता के दोषों की ओर ध्यान दिया है। प्राचीन भारत के राजशास्त्रियों ने राज्य को अति आवश्यक और उपयोगी संस्था माना। इसी कारण अपने देश में अराजकवादी और व्यक्तिवादी विचार

---

5. महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय 15।
6. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० 18।
7. वी. आर. आर. दीक्षितार, हिन्दू एडमीनिस्ट्रेशन, इन्टीट्यूशनस, पृ० 27-37।

धारायें विकसित नहीं हुई। राज्य का उद्देश्य धर्म का पालन करना बताया गया है जिसमें स्वधर्म वर्ण धर्म और आश्रम धर्म सभी आ जाते हैं।[8]

प्राचीन काल में राज्य विषयक मामलों को धर्म से अलग नहीं रखा गया। महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार 'दण्डनीति के अभाव में त्रयी और धर्म का नाश हो जायेगा तथा समाज की स्थिति भी सम्भव नहीं हो पायेगी।[9] शुक्रनीतिसार के अनुसार नीतिशास्त्र सब को जीवन प्रदान करने वाला, लोक की स्थिति को सम्पादित करने वाला, धर्म, अर्थ और काम का मूल तथा मोक्ष का प्रदान करने वाला है।[10]

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय विद्वान राजशास्त्र से पूर्णतया परिचित थे एवं प्राचीनकाल में राजशास्त्र विषयक सिद्धान्तों का विकास हो चुका था।

दुर्भाग्य की बात हैं कि विदेशी लेखकों ने भारतीय इतिहास पर कटाक्ष करते हुये अनेक भ्रामक मतों का प्रतिपादन किया है। इन भ्रामक मतों में एक यह है कि प्राचीन भारतीयों में इतिहास-बुद्धि का अभाव था। इस कारण प्राचीन भारतीय विद्वानों ने कोई इतिहास ग्रन्थ नही लिखा। यह मत तर्क संगत नहीं है। रामायण, महाभारत, पुराणों, प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों और सिक्कों आदि में प्राप्त वंश-वृक्षों में अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेखों से स्पष्टतया प्रकट होता है कि भारतीयों में अपने इतिहास के प्रति उदासीनता न थी।[11] मूल रूप से प्राचीन भारतीय इतिहास हमारे ब्राह्मण ग्रन्थों, धर्म सूत्रों, धर्म शास्त्रों, उपनिषदों, पुराणों, महाकाव्यों, जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध-जातकों आदि में समाविष्ट है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत की शासन पद्धति पर लिखे गये ग्रन्थ—कोटिल्ययी —अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, शुक्रनीति आदि विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। ग्रीक लेखकों के वर्णन एवं हिन्दू-काल के राजनैतिक इतिहास पर लिखे गये अनेक ग्रन्थों से हिन्दू राज्यों ओर उनकी शासन पद्धतियों के विषय में काफी जानकारी प्राप्न होती है। अशोक के शिलालेख एवं स्तम्भलेख तो आत्म

---

8. डा० परमात्माशरण, प्राचीन भारत में राजनैतिक विचार, पृ० 7।
9. शान्तिपर्व, 62/28, ।
10. शुक्रनीतिसार, 1/11।
11. विमलचन्द्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 1।

कथा है। गुप्तों के अभिलेख भी प्राचीन इतिहास की एक झलक प्रस्तुत करते हैं। ह्वेनसांग का कथन है कि भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में ऐसे राजकीय पदाधिकारी थे, जो अच्छी बुरी समस्त घटनाओं का विवरण लिखते थे। संस्कृत साहित्य में लिखे गये अनेक ग्रन्थों जैसे पाणिनी कृत 'अष्टाध्यायी' कालिदास कृते 'रघुवंश', विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस' आदि में भी प्राचीन भारतीय राजनैतिक जीवन के दर्शन होते हैं। इसी सन्दर्भ में बी० जी० गोखले लिखते हैं 'प्राचीन भारत के इतिहास के स्रोत अनेक और विविध प्रकार के हैं। हमारे इतिहास के स्रोतों के क्षेत्र में किसी नदी के तट पर एक निर्जन टीले को खोद कर निकाले गये प्रागतिहासिक काल के मनुष्य द्वारा पत्थर को भोंड़े ढंग से काट कर बनाये गये गंड़ों से लेकर भव्य इमारतों के भग्नावशेषों और कवि वाण के 'हर्षचरित' तक सभी प्रकार की चीजें शामिल हैं।[12] प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये साहित्य महत्वपूर्ण साधन है। इस सन्दर्भ में डा० के० पी० जायसवाल ने अपने ग्रन्थ हिन्दू पालिटी में यह मत व्यक्त किया है "हमारी सूचना के स्रोत विशाल हिन्दू साहित्य तक विस्तृत है--वैदिक, संस्कृत और प्राकृत तथा देश के शिलालेखों व सिक्कों के रिकार्ड भी। सौभाग्य की बात है कि हिन्दू राजनीति पर लिखे गये कुछ थोड़े से प्राविधिक ग्रन्थ भी हमें प्राप्त हुये हैं।[13]

यद्यपि भारत का साहित्य अत्यन्त विशाल एवं समृद्ध है, परन्तु उस साहित्य में वैज्ञानिक आधार पर लिखे गये ऐतिहासिक ग्रन्थों की संख्या प्रायः कम ही है। इसके दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम तो तत्कालीन भारतीयों की इतिहास विषयक धारणा एवं परिभाषा आधुनिक परिभाषा से भिन्न थी। कौटिल्य ने इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिहास, आख्यामिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र को भी स्थान दिया है।[14] ऐसी स्थिति में इतिहासकार केवल इतिहासकार ही नहीं रहा, वरन उपदेशक, सुधारक, व्यवस्थाकार आदि भी बन गया। परिणामस्वरूप उसकी कृतियों में ऐतिहासिक वृतों के साथ-साथ कल्पित और अतिरंजित उल्लेखों का भी समावेश स्वाभाविकतः होता गया।[15] दूसरा कारण यह रहा कि भारतीय विद्वानों का दृष्टिकोण आध्यात्मिकता से ओत प्रोत था। उनके अनुसार यह पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल एक देश है, समस्त मानव जाति एक है।

---

12. बी० जी० गोखले, प्राचीन भारत, पृ० 4।
13. डा. के. पी. जायसवाल, हिन्दी पालिटी, पृ० 3।
14. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1/5।
15. वि. च. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 1 :

यह अन्तिम सत्य है कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वे स्वीकारते हैं कि 'सम्पूर्ण पृथ्वी, मानव की मां है।[16] यही कारण है कि प्राचीन भारत की सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक, साहित्यक, एवं कला विषयक पद्धतियां व्यवस्थायें एवं परम्परायें जीवित रही, परन्तु उनके निर्माताओं के व्यक्तिगत इतिहास विस्मृति के धूलि-पुंज में दब गये। अधिकांशतः प्राचीन भारत का इतिहास मौलिक तत्वों एवं सिद्धान्तों का इतिहास है, भौतिक घटनाओं का नहीं।[17] यह सत्य है कि अगर पाश्चात्य विद्वान इन आधारभूत तथ्यों को समझते तो वे कभी भी प्राचीन भारतीय विद्वानों को 'इतिहास-लेखन कला का न जानने वाला' कहकर सम्बोधित नहीं करते। वास्तव में प्राचीन भारतीय साहित्य में अमूल्य ऐतिहासिक निधि निहित है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में इसने अमूल्य योगदान दिया है।

विवेचन की सुविधा के लिये हम भारतीय इतिहास से सम्बद्ध इस विलक्षण साहित्य को निम्नवत् रखकर चलेंगे :

1. वैदिक-साहित्य,
2. महाकाव्य,
3. धर्मशास्त्र,
4. बौद्ध ग्रन्थ,
5. जैन ग्रन्थ,
6. कोटिल्ययी अर्थशास्त्र,
7. नीतिशास्त्र,
8. अन्य साहित्य,
9. पुरातात्त्रिक साक्ष्य।

वैदिक साहित्य :

भारत में प्राचीन काल में बहुत सा साहित्य मिलता है जिसे वैदिक साहित्य कहते हैं। वैदिक साहित्य को दो भागों में बांटा जाता है। मंत्र एवं ब्राह्मण। मंत्र भाग को संहिता भी कहते हैं। ये चार हैं, ऋक, यजु, साम व अथर्व। ब्राह्मण साहित्य गद्य में है। इसमें यज्ञों की विधि सम्बन्धी एवं अन्य बातों का

---

16. अथर्ववेद, 12/1/12।
17. डा. वि. च. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 1 एवं 2।

प्रतिपादन किया गया है। ब्राह्मणों के अन्तिम भाग को आरण्यक कहते हैं। इसे आरण्यक इसलिए कहा जाता है कि इसकी रचना जगल में आश्रम बनाकर रहने वाले वानप्रस्थियों द्वारा की गई। आरण्यक का अन्तिम भाग उपनिषदों के नाम से जाना जाता है। उपनिषदों में प्राचीन भारत के दार्शनिक सिद्धान्तों का संकेत मिलता है। उपनिषद साहित्य को वेदान्त भी कहा जाता है। क्योंकि यह वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग है। 'इस प्रकार वैदिक साहित्य के बृहत विस्तार को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है, संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद आदि। यह सम्पूर्ण साहित्य साधारणतया वेद के नाम से जाना जाता है।[18] लौकिक व्यवहार में वेद शब्द से चार संहिताओं का बोध होता है— ऋकवेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। ऐसा माना जाता है कि पहले 'ऋक, यजु एवं साम — इन तीनों को ही वेद माना जाता था। अथर्ववेद का सम्बन्ध जनसाधारण के विश्वासों से होने के कारण, उसे वह अधिकार बहुत समय के बाद प्राप्त हुआ। प्राचीन जनश्रुति को मानने वाले कहते हैं कि यज्ञ में तीन ही वेदों की आवश्यकता पड़ने के कारण 'वेदत्रयी' नाम प्रसिद्ध हुआ।[19]

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत वेदों का स्थान सर्वोपरि है। इसको हिन्दू-समाज की अमूल्य निधि कहा गया है। वेदों को प्राचीन भारत की सभी विद्याओं और कलाओं का मूल माना जाता है। आर्य संस्कृति के सर्वप्रथम दर्शन हमें वेदों में होते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि वेद में आर्य संस्कृति की आत्मा सन्निहित है। भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण प्रेरणा वेद ही प्राप्त करती रही है।[20] वेदों में तत्कालीन इतिहास, भूगोल, सामाजिक संगठन एवं वैदिक राष्ट्र की तत्कालीन शासन पद्धति का पर्याप्त परिचय मिलता है। यहां यह लिखना आवश्यक सा प्रतीत होता है जि वेद शब्द संस्कृत भाषा की 'विद' धातु से बना है। 'जिसका अर्थ ज्ञान के लिये नहीं किया जाता, इसका प्रयोग केवल उसी ज्ञान के लिये होता है जिसका प्रस्फुरण हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास के अनुसार समाधि तथा तपस्या में लीन प्राचीन वेदकालीन ऋषियों के शुद्ध अन्तः करण में ईश्वरीय प्रेरणा के द्वारा हुआ था।'[21]

वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। मैक्समूलर ने सर्वप्रथम

---

18. विन्टसीत्ज "हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर" पृ० 52-56।
19. डा. शिवदत्त ज्ञानी, वेदकालीन समाज, पृ० 29।
20. वही, पृ० 28।
21. ए. मैकडोनेल, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० 28।

1859 ई० में 'प्राचीन संस्कृत साहित्य' नामक ग्रन्थ में सर्वप्राचीन ऋग्वेद का रचनाकाल ई० पू० 1200 वर्ष आंका है।[22] इसी प्रकार लोकमान्य तिलक एवं जेकांषी ने ज्योतिषशास्त्र की मदद से ई० पू० 4500 वर्ष के लगभग 'ऋग्वेद' का समय निश्चित किया है।[23] जर्मन विद्वान विन्टरनीत्ज ने विदेशों में पाये गये वैदिक संस्कृति के चिन्हों के आधार पर ऋग्वेद का रचनाकाल ई० पू० 3000 वर्ष के लगभग माना है।[24] इसी प्रकार डा० अल्तेकर वैदिक युग का प्रारम्भ ई० पू० 2000 वर्ष निर्धारित करते हैं।[25] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वेदों का सृजनात्मक काल सम्भवतः ई० पू० 2000 वर्ष के लगभग प्रारम्भ हुआ एवं उनका अन्तिम संकलन वेदव्यास द्वारा ई० पू० 2100 वर्ष के लगभग किया गया।

मैक्समूलर का कथन है, 'ऐसा प्रायः निश्चित माना जाता है कि न केवल भारत के वरन प्राचीन विश्व के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं।[26] वेदों को कुछ साहित्यकार ईश्वर द्वारा रचित भी मानते हैं।[27] वैदिक साहित्य के अन्तर्गत चारों वेद एवं अन्य निम्नलिखित ग्रन्थ आते हैं :

1. ऋग्वेद,
2. यजुर्वेद,
3. सामवेद,
4. अथर्ववेद,
5. ब्राह्मणग्रन्थ,
6. आरण्यक ग्रन्थ,
7. उपनिषद ग्रन्थ,
8. वेदांश।

---

22. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ० 108।
23. विन्टरनीत्ज, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० 294-299।
24. विन्टरनीत्ज, पूर्वोक्त, पृ० 300-301।
25. इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस 22वां अधिवेशन, अध्यक्षीय भाषण, पृ० 12-14,।
26. मैक्समूलर, 'चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप' पृ० 4।
27. रामगोविन्द त्रिवेदी, वैदिक साहित्य, पृ० 98।

ऋग्वेद :

'ऋग्वेद आज संसार में सबसे पुराना मानवीय प्रलेख है। ऋग्वेद हमें मानव जाति के इतिहास के ऐसे युग में ले जाता है, जहां आधुनिक पुरातत्व जैसे अन्य विज्ञान झांक भी नहीं सकते हैं। 'डा० ईश्वरी प्रसाद इसी सन्दर्भ में आगे लिखते हैं... 'ऋग्वेद के अध्ययन से हम संसार की संस्कृति में भारतीयों के योगदान को समझने में समर्थ होते हैं, तथा उसकी यूनानी तथा रोमन लोगों के योगदान से तुलना कर सकते हैं।'[28] ऋग का अर्थ छन्दों एवं चरणों से युक्त मन्त्र होता है। ऐसा ज्ञान (वेद) जो ऋचाओं में बद्ध हो, ऋग्वेद कहलाया। ऋग्वेद में दस मण्डल हैं और कुल मिलाकर 10 २० सूक्त है। अनेक पुराणों और पातंजल-महाभाष्य आदि के अनुसार ऋग्वेद की 21 संहितायें अथवा शाखायें हैं। परन्तु इस समय केवल 'शाकल-संहिता' ही उपलब्ध है।[29] ऋग्वेद की कुछ हस्तलिखित प्रतियों से परिशिष्ट भी जुड़े मिलते हैं। इन परिशिष्टों को 'खिल' कहते हैं। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के आठवें मण्डल के अन्त में एक परिशिष्ट मिलता है। इसे 'बालखिल्य सूक्त' कहते हैं।[30]

यद्यपि ऋग्वेद एक धार्मिक ग्रन्थ है इसमें विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है, तथापि उसमें कितने ही मन्त्र ऐसे मिलते हैं, जो तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों की झलक देख सकते हैं। ऋग्वेद में सभा एवं समिति को लेकर अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है। एक मन्त्र में राजा को समिति में शामिल होने का निर्देश दिया है। 'परिसद्याव पशुमान्ति होता राजा न सत्यः समिति रियान'।[31] ऋग्वेद के सम्बन्ध में डा० ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं, ऋग्वेद की विषयवस्तु इतनी विविध है कि वास्तव में यह एक पुस्तकालय है न कि पुस्तक। ऋग्वेद में हम प्रारम्भ में आर्यों के धर्म दर्शन संस्कृति एवं राजनीति के प्रति विचारों की प्रगति देख सकते हैं।[32]

यजुर्वेद :

'यजुः' का शाब्दिक अर्थ यज्ञ होता है। यजुर्वेद में विशेष रूप से यज्ञ एवं'

---

28. डा. ईश्वरी प्रसाद—प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन पृ० 503।
29. मेक्डानेल, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० 29।
30. वि. च. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 4।
31. ऋग्वेद, 6/92/6।
32. डा. ईश्वरी प्रसाद, पूर्वोक्त, पृ० 504।

कर्मकाण्ड को प्रधानता दी गई है। विभिन्न यज्ञों के समय उच्चारित किये जाने वाले मन्त्रों का इसमें संग्रह है। इसे 'अध्वयुर्वेद' भी कहा जाता है। 'अध्यवयु, का शाब्दिक अर्थ भी यज्ञ होता है। यजुर्वेद को 40 अध्यायों में बांटा गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें प्रथम अठारह अध्याय ही थे। शेष अध्याय बाद में मिलाये गये।[33] डा० विमलचन्द्र पाण्डेय यजुर्वेद को 5 शाखाओं में विभक्त करते हैं (1) काठक, (2) कपिष्ठल, (3) मैत्रायणी, (4) तैतरीय और (5) वाज सनेयी। उनका विचार है कि प्रथम चार शाखाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। ये शाखायें कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत परिगणित होती हैं। पांचवीं शाखा वाज सननी को शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत रखा जाता है।[34]

यजुर्वेद में ऋग्वेद से भिन्न भौगोलिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक आदि परिस्थितियां अंकित हैं। यजुर्वेद में एक मन्त्र है— 'जिसके पास औषधियां उसीतरह से एकत्र होती हैं जैसे कि समिति में 'राजनः' उसी विप्र को भिषक कहते हैं।[35] इस प्रकार इस मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि समिति में 'राजन' एकत्र हुआ करते थे। ये 'राजन' वही है, जिन्हें वेद में अन्यत्र राजानः 'राजकृत' कहागया है, अर्थात् वे राजा या राजन्य जो कि राजा को बनाते थे।

आर्यों का विश्वास था कि यज्ञों के द्वारा देवता प्रसन्न होते हैं, उनके परिणामस्वरूप ही वृष्टि होती है। अन्न और फल होते हैं तथा जनता सुख-शान्ति का जीवन बिताती है। धार्मिक दृष्टिकोण से यजुर्वेद एवं ऋग्वेद में कोई अन्तर नहीं लगता, क्योंकि दोनों के देवता एक जैसे ही प्रतीत होते हैं, लेकिन किन्हीं स्थलों पर कुछ परिवर्तन भी दिखाई पड़ते हैं। जैसे ऋग्वेद का 'रुद्र' यजुर्वेद में 'शिव' के नाम से वर्णित है। कहीं-कही महादेव अथवा शंकर के नाम का भी उल्लेख है। यजुर्वेद में सर्वप्रथम उपनिषद के ब्रह्मा के दर्शन होते हैं। धार्मिक जीवन में यज्ञ का महत्व अधिक था। यज्ञों की विधि, सामग्री तथा अन्य आवश्यक बातों का विस्तारशः वर्णन किया गया है। यजुर्वेद के दो भाग माने गये हैं। शुक्ल और कृष्ण, शुक्ल यजुर्वेद में 1 से 10 तक अमावस्या सम्बन्धित व 11 से 18 अध्याय तक पूर्णिमा सम्बन्धी यज्ञों को बताया गया है जिन पर शतपत ब्राह्मणों[36] में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

---

33. मैक्डानेल, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० 175-176।
34. वि. च. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 38।
35. यजुर्वेद, 12/80।
36. शतपत ब्राह्मण, 1/5/6/9।

सामवेद :

'साम' का शाब्दिक अर्थ गान होता है। सामवेद ऐसा वेद है, जिसमें मन्त्र यज्ञों में देवताओं की स्तुति करते हुये गाये जाते हैं। 'पुराणों से ज्ञात होता है कि सामवेद की 1000 संहितायें थी। इनमें से अब केवल तीन उपलब्ध हैं— 'कौथुमस', 'राणरणीय' एवं 'जैमिनीय' की संहितायें। इसमें से कौथुमस संहिता सबसे अधिक प्रसिद्ध है।[37] सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद की अपेक्षा ऋग्वेद से अधिक सम्बन्धित है। इसमें 1549 मन्त्र हैं एवं समस्त वेद दो अर्चिकाओं में विभक्त किया गया है। सामवेद में केवल 75 मन्त्र मौलिक है शेष मन्त्र ऋग्वेद के हैं। परन्तु स्वरभेद के कारण यजुर्वेद के मन्त्रों से भिन्न हो गये हैं।[38] यजुर्वेद के समान सामवेद को भी यज्ञ की दृष्टि से संकलित किया गया। 'सामगान' सोम बनाने के समय और चन्द्रलोक में निवास करने वाले पूर्वजों की पूजा के समय विशेषतया गाया जाता था।[39]

अथर्ववेद :

अथर्ववेद के रचियता 'अथर्वा, ऋषि थे। इन्हीं के नाम पर इसे अथर्ववेद कहते हैं। अथर्ववेद में 20 काण्ड है, जिनमें 730 सूक्त एवं 6000 मन्त्र हैं। अनेक विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि अथर्ववेद जादू टोने एवं अन्धविश्वास का भण्डार हैं।[40] चूंकि वेद 'त्रयी' हैं, अतएव कुछ विद्वानों के मत में अथर्ववेद वेद नहीं है, परन्तु यथार्थ में वेद चार ही माने गये हैं और अथर्ववेद उनमें चौथा है। अथर्ववेद में न केवल समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं आयुर्वेद के ऊंचे सिद्धान्त हैं वरन् तत्कालीन राजनीति के भी इसमें पूर्ण दर्शन होते हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है

'त्वां विशो वृणतां राज्याम त्वामिमः प्रदिशः पंचदेवीः।
वष्मंन राष्ट्रस्य कुकुरि श्रयस्व ततो न उग्रा विभाजावसूनिनि'॥

अर्थात् प्रजा राज्य के लिए तुम्हें वरण करती है, सब दिशाओं के लोग तुम्हारा वरण करते हैं। तुम राष्ट्र रूपी शरीर के सर्वोच्च स्थान पर आसीन रहो, और वहां रहते हुए उग्र शासक के समान सब में संपति का विभाजन करो।[41] इस मन्त्र से स्पष्ट होता हैं कि तत्कालीन राजनीति का क्या

---

37. डा. ईश्वरी प्रसाद, पूर्वोक्त, पृ० 505।
38. वि. च. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 4।
39. रामगोविन्द त्रिवेदी, वैदिक साहित्य, पृ० 104।
40. मैक्डानेल, पूर्वोक्त, पृ० 18 5-18 6।
41. अथर्ववेद, 3/4/2।

स्वरूप था। इसी प्रकार सभा एवं समिति के वर्णन में तत्कालीन राजनैतिक जागृति का बोध होता है। वरुणार्द से व्रात्य कहकर उसका सुन्दर वर्णन किया गया है। इन सूक्तों में उच्च नैतिकता के दर्शन होतें हैं। अथर्ववेद में आयुर्वेद संबन्धित सामग्री भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। उसमें सूर्य की स्वास्थ्यप्रद शक्ति एवं विभिन्न रोगात्पादक कृमियों का विस्तृत वर्णन आता है। ज्योतिष संबन्धि मन्त्रों में नक्षत्रों का उल्लेख है। गाधार, मजबूत, मढ़ावृष बाल्हीक, मगध, अंग, आदि भू-भागों के नाम का उल्लेख भी इसी वेद में आता है।[42]

ब्राह्मण ग्रन्थ :

जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे ही समाज में यज्ञों एव कर्मकाण्डों की प्रतिष्ठा बढ़ती गई। ये यज्ञ और कर्मकाण्ड अत्यन्त जटिल हो गये। इनके विधान तथा इनकी क्रियाओं को समझने के लिये एक नये साहित्य का प्रादुभाव हुआ, जो ब्राह्य-साहित्य के नाम से विख्यात है। ब्रह्म का अर्थ है यज्ञ। अतः यज्ञ के विषयों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहलाये। ये वेदों पर आधारित हैं। वैदिक मन्त्रों की व्याखया करते हुये ही ये अपने यज्ञों को प्रतिपादित करते हैं। अधिकांशतः ब्राह्मण गद्य में लिखे मिलते हैं, परन्तु कहीं-कहीं पद्य भी मिलता है।[43] 'संहिता' तथा 'ब्राह्मण' के स्वरूप एवं विषय में स्पष्ट अन्तर है। संहिता का स्वरूप दोनों प्रकार का है। अधिकांश संहिताये छन्दोबद्ध हैं। कुछ अंश ही गद्यात्मक है। इसके विपरीत 'ब्राह्मण' गद्यात्मक है।

ब्राह्मणों का साहित्य बहुत विशाल था, परन्तु आज अनेक ब्राह्मण काल कवलित हो गये हैं। केवल उनका नाम-निर्देश तथा उदाहरण ही कतिपय श्रोत-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। डा० बटकृष्ण घोष ने अनुपलब्ध ब्राह्मणों के उपलभ्यमान उद्दरणों को एकत्र कर प्रकाशित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।[44] ये ब्राह्मण निम्नलिखित हैं—

शाय्ययायन ब्राह्मण, भाल्लवि ब्राह्मण, जमिनीय या तवलकार ब्राह्मण, आहवरक ब्राह्मण, कंकति ब्राह्मण, कालबवि, ब्राह्मण, चरक ब्राह्मण, छागलेय ब्राह्मण, जाबालि ब्राह्मण, पैंगायनि ब्राह्मण, माषशरावि ब्राह्मण मैत्रायणीय

42. डा. शिवदत्त ज्ञानी, वेद कालीन समाज, पृ० 39।
43. वि. च. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 5।
44. डा. बटकृष्ण घोष, कलेक्शन आफ फरग्मैंटस आफ लौस ब्राह्मण, कलकत्ता, 1935।

ब्राह्मण, रारुकि ब्राह्मण, शैलालि ब्राह्मण, श्वेताश्वर ब्राह्मण एवं हारिद्रविक ब्राह्मण ।

उपलब्ध ब्राह्मणों की संख्या वेदानुसार इस प्रकार है : ऋग्वेद—(1) ऐतरेय ब्राह्मण, (2) शाखायन ब्राह्मण, शुक्लय जुर्वेद, (3) शतपथ ब्राह्मण कृष्णयजुर्वेद, (4) तैतिरीय ब्राह्मण, सामवेद (5) ताण्डय ब्राह्मण, (6) षडविश, ब्राह्मण, (7) सामविधान ब्राह्मण, (8) आर्षेय ब्राह्मण, (9) देवत ब्राह्मण, (10) उपनिषद ब्राह्मण, (11) संहितापनिषद ब्राह्मण, (12) वंशब्राह्मण, (13) जैमिनीय ब्राह्मण । अथर्ववेद, (14) गोपथ ब्राह्मण ।[45]

ब्राह्मण ग्रन्थों की सृष्टि कथाओं में यज्ञीय अनुष्ठान अध्यात्मवाद की अपेक्षा अधिक प्रधान है । ब्राह्मण ग्रन्थों का सबसे महत्वपूर्ण विचार उनका बन्धुत्व दर्शन, प्रत्यक्ष समरूपता के आधार पर एकात्मकता को बनाये रखने का भाव है। भारतीय दार्शनिक विचारधारा को ब्राह्मणों की यह अत्यधिक महत्वपूर्ण देन है, क्योंकि इस रहस्यमय तादात्म्यों से ही उपनिष्दों के महान तादात्म्य का विकास हुआ ।[46] ब्राह्मणों का मुख्य विषय 'विधि' है। 'विधि' का अर्थ यज्ञ तथा उसके अंगों-उपांगों के अनुष्ठान का उपदेश है । ब्राह्मण-युग में यज्ञ का सम्पादन करना ही धर्म का मुख्य उद्देश्य था । ब्राह्मण ग्रन्थों में तत्कालीन राजनीति से सम्बन्धित बातों का भी समावेश है । शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर आया है :

'तं वै माध्यन्दिने सवने भिषिन्वति । एष वै प्रजापतियं
एष यज्ञस्तायते यस्मादिया: प्रजा प्रजाता एतम्वेवाप्येतह्यनु
प्रजायन्ते तदेन मध्यत एवंतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति ।'[47]

इससे विदित होता है कि राजा का अभिषेक सर्वप्रथम प्रजा द्वारा किया जाता था । इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत एक स्थान पर आता है :

'(एतेनेन्द्रण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वा अभिषिन्चेत् स बयात सह श्रद्धया) यान्व रात्रीमजायेह यान्व प्रेतास्मि तदुमयमन्तरेणेष्टापूर्त में लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृन्जीथा यदि ते दुह्येसिति ।'[48]

---

45. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य, पृ० 212-213 ।
46. डा. ईश्वरी प्रसाद, प्राचीन भारतीय संस्कृति कला, राजनीति धर्म तथा दर्शन, पृ० 506 ।
47. शतपथ ब्राह्मण, 5/3/5/1 ।
48. ऐतरेय ब्राह्मण, 8/15 ।

यह राज्याभिषेक की शपथ के सन्दर्भ में है। राजा शपथ लेता हुआ कहता है—'जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिसमें मेरी मृत्यु होगी, उसके बीच में (जीवन पर्यन्त) जो भी इष्टापूर्ण (शुभकार्य) मैंने किये हों, वे नष्ट हो जाये और मैं अपने सब सुकृत्यों, आयु और पूजा से वंचित हो जाऊं, यदि मैं किसी भी प्रकार से आपके विरुद्ध द्रोह करूं।

आरण्यक :

आरण्यक तथा उपनिषद ब्राह्मणों के परिशिष्ट ग्रन्थ के समान है। इनमें ब्राह्मण ग्रन्थों के समान प्रतिपाद्य विषय से भिन्न विषयों का प्रतिपादन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। 'आरण्यक' शब्द का अर्थ ब्राह्मणों से सम्बन्धित उन धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों से हैं, जिनकी या तो अरण्यों में रचना हुई हो या जिनका अध्ययन वनों में होता रहा। आरण्यकों ने कोरे यज्ञवाद के स्थान पर चिन्तन-शील ज्ञान के पक्ष को अधिक महत्व दिया है। इस प्रकार आरण्यकों में उस ज्ञानमार्गी विचारधारा का बीजारोपण होता है जिसका विकास हम उपनिषदों में देखते हैं।[49] आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में 'आरण्यकों में उन महनीय आध्यात्मिक तत्वों का संकेत उपलब्ध होता है, जिनका पूर्ण विकास उपनिषदों में मिलता है। उपनिषद आरण्यकों के ही अन्त में आने वाले परिशिष्ट हैं तथा प्राचीन उपनिषद आरण्यकों के ही अंश तथा अंगरूप में आज भी उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार वैदिक तत्वमीमांसा के इतिहास में आरण्यकों का विशेष महत्व है।'[50] उपलब्ध आरण्यक निम्नवत् है :

1. ऐतरेय आरण्यक,
2. शांखायन आरण्यक,
3. तैत्तरीय आरण्यक,
4. मैत्रायणी आरण्यक,
5. माध्यान्दिन वृहदारण्यक,
6. तलवकार आरण्यक।

ब्राह्मणों की भांति आरण्यक भी, जिनके वे अंग हैं, विविध वैदिक शाखाओं से सम्बद्ध है। ऐतरेय आरण्यक ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का अंग है। इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण का कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय आरण्यक अग्र भाग है। शुक्ल यजुर्वेद शतपथ ब्राह्मण में चौदहवें अध्याय का एक भाग आरण्यक है।

---

49. वि. च. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 5।
50. बलदेव उपाध्याय, पूर्वोक्त, पृ० 250।

छान्दोग्य उपनिषद एक आरण्यक भी है और सामवेद के ताण्डय महाब्राह्मण से सम्बद्ध है। जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण भी सामवेद की जैमिनीय शाखों का एक आरण्यक है।

उपनिषद :

उपनिषद को आरण्यकों में सम्मिलित माना जाता है। वेद के अन्तिम भाग होने के कारण तथा सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद ही वेदान्त के नाम से भी विख्यात हैं। उपनिषदों को वह आध्यात्मिक मानसरोवर माना जाता है, जिससे ज्ञान की विभिन्न सरितायें निकल कर इस पुण्यभूमि में मानवमात्र के ऐहिक कल्याण तथा आयुष्मिक मंगल के लिये प्रवाहित होती है। कुछ विद्वानों ने उपनिषदों का शाब्दिक अर्थ 'गुरु के समीप बैठना' माना है। उपनिषद विशुद्ध ज्ञान की जिज्ञासा है। ये यान्त्रिक यज्ञों के स्थान पर ज्ञान-यज्ञ का प्रतिपादन करते हैं, संसार के नानात्व के ऊपर एकत्व का आरोप करते हैं और बहुदवेवाद के स्थान पर ब्रह्म की प्रतिष्ठा करते हैं। ब्रह्मविषयक होने के कारण ही उपनिषदों को ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। भारतवासियों की आदितम चिन्तनशील कृति होते हुए भी हम उपनिषदों में काफी विचार-प्रौढ़ता पाते हैं। यद्यपि उनमें अनेक स्थलों पर परस्पर-विरोधी और अवैज्ञानिक कथन भी मिलते हैं, तथापि उनकी सूक्ष्मता, तर्कशीलता और उदान्त प्रयोजनशीलता प्रशंसनीय है। परवर्ती हिन्दू धर्म की प्रत्येक विचार प्रणाली किसी न किसी रूप में अपने को उपनिषदों से उद्भूत बताती है।[51] डा० ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि कुछ विद्वानों का मत है कि उपनिषद दर्शन शास्त्रियों की शिक्षा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपनिषदों का दर्शन ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुष्ठानों के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही नहीं बल्कि लगभग विद्रोह है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि उपनिषदों में ब्राह्मण छात्रों के रूप में वर्णित है जो क्षत्रिय राजाओं -- जैसे जनक, अश्वपति, कैकेय, प्रतर्दन आदि के पास शिक्षा प्राप्ति के लिये जाते हैं। तीसरी बात यह है कि ब्राह्मणों के अनुष्ठान यहां 'ध्यान' की अपेक्षा अप्रधान है। वास्तव में ब्राह्मण बाह्य कर्मकाण्डवाद की शिक्षा देते हैं जबकि उपनिषद आन्तरिक ज्ञान पर बल देते हैं।[52] आचार्य रजनीकांत शास्त्री के अनुसार उपनिषद इस बात का उपदेश देते हैं कि किस फल की प्राप्ति के लिए कौन सा वेदोक्त कर्म करना चाहिये। कर्म करने के लिए जन्म लेना और मरना आवश्यक है, परन्तु जीव का परम ध्येय जीवन-मरण से छुटकारा पाना अथवा मोक्ष की प्राप्ति है। उपनिषद यह

51. वि. च. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 5, 6।
52. डा. ईश्वरी प्रसाद, पूर्वोक्त, पृ० 507।

भी बताते हैं कि जीव किस प्रकार मोक्ष पा सकता है। जीवात्मा को कर्म-निरपेक्ष होकर ब्रह्म के अध्ययन से ही शाश्वत शान्ति मिल सकती है। वेदान्त और उपनिषद दोनों का एक ही विषय है और वह है ब्रह्मज्ञान।[53]

कुछ प्रमुख उपनिषद निम्नलिखित हैं :[54]

1. ईश-उपनिषद,
2. केन-उपनिषद,
3. कठ-उपनिषद,
4. प्रश्नोपनिषद,
5. मुण्डक-उपनिषद,
6. माण्डूक्य-उपनिषद,
7. तैतरीय-उपनिषद,
8. ऐतरेय-उपनिषद,
9. छान्दोग्य-उपनिषद,
10. बृहदारण्यक-उपनिषद,
11. श्वेताश्वर-उपनिषद,
12. कोषातिकि-उपनिषद,
13. मैत्री या मैत्रायणी-उपनिषद,
14. महानारायणोपनिषद,
15. वाष्कलमन्त्रोंपनिषद,
16. छागलेयोपनिषद,
17. आर्षेयोपनिषद,
18. शौनकोपानिषद।

वेदांग :

अंग शब्द का व्युत्पात्तिलभ्य अर्थ है—'उपकारक'—अग्यन्ते ज्ञायंते अमीमिरिति 'अगांनि', अर्थात् जिनके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने

53. रजनीकांत शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ० 97।
54. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य, पृ० 259-267।

में सहायता प्राप्त होती है, उन्हें 'अंग' कहते हैं। वेद, भाषा तथा भाव दोनों ही दृष्टियों से दुरुह कहे गये हैं। अतएव वेद का अर्थ जानने में उसके कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में तथा इस प्रकार की सहायता देने में जो उपयोगी शास्त्र हैं, उन्हें वेदांग के नाम से पुकारते हैं।[55]

वेदांग 6 हैं :

1. शिक्षा,

2. कल्प,

3. व्याकरण,

4. निरुक्त,

5. छंद,

6. ज्योतिष।

शिक्षा :

शिक्षा का अर्थ उस शिक्षा से है,[56] जो स्वर तथा वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे। इस प्रकार वैदिक स्वरों का विशुद्ध रूप में उच्चारण करने के लिए 'शिक्षा' का निर्माण हुआ। तैत्तिरीय उपनिषद की प्रथम वल्ली में इस विषय के समस्त मूल सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। शिक्षा के 6 अंगों के नाम इस उपनिषद के अनुसार इस प्रकार हैं: (1) वर्ण, (2) स्वर, (3) मात्रा, (4) बल, (5) साम एवं (6) सन्तान।[57]

प्रत्येक वेद में वर्णों का उच्चारण एक ही प्रकार से नहीं होता। किन्हीं-किन्हीं वर्णों के उच्चारण में भिन्नता रहती है। इसी कारण प्रत्येक वेद की शिक्षा अलग-अलग होती है। इसमें उस वेद के अनुकूल उच्चारण का विधान किया गया है।

---

55. बलदेव उपाध्याय, पूर्वोक्त, पृ० 292।
56. ऋग्वेद, भूमिका, पृ० 49।
57. तैत्तिरीय उपनिषद, 1/2।

कल्प :

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत 'कल्प' का स्थान नितान्त महत्वपूर्ण तथा प्राथमिक माना गया है। इसका अभिप्राय ऐसे नियम से है जिनमें विधि नियम का प्रतिपादन किया गया है। ये कल्प-सूत्र कहलाते हैं। जब कर्मकाण्ड विषयक साहित्य बहुत अधिक मात्रा में हो गया और उसको स्मरण रखना मनुष्य के लिए एक चुनौती बन गया तो तत्कालीन ऋषियों ने उसे सूत्रों में परिणित किया। इन सूत्रों को प्राचीनतम इसलिये माना जाता है, चूंकि ये अपने विषय-प्रतिपादन में ब्राह्मण तथा आरण्यकों के साथ पूर्णत: सम्बद्ध है। कल्प सूत्र तीन प्रकार के बताये गये हैं। (1) श्रोत सूत्र, (2) गृह्य सूत्र एवं (3) धर्मसूत्र।[58] ये सभी सम्मिलित रूप में कल्प-सूत्र कहलाते हैं। बलदेव उपाध्याय के अनुसार कल्प-सूत्र चार हैं। इन तीन के अतिरिक्त वे चौथा 'शुल्कसूत्र' भी बताते हैं।[59] श्रोत सूत्र में श्रुतिनिहित यज्ञादि कर्म का वर्णन है। गृहसूत्रों में गृह कार्य के सम्पादन आदि हैं। धर्म सूत्रों में राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक आचार संहिता है। गौतम धर्मसूत्र को उपलब्ध धर्मसूत्रों में सबसे प्राचीन माना जाता है। इन विभिन्न सूत्रों से सम्बन्धित शिक्षक जिनके नाम पर ग्रन्थों के नाम पड़े हैं, देश के भिन्न भाग में रहते थे। ऐसा माना जाता है कि वशिष्ठ उत्तरी भारत में रहते थे और बौधायन दक्षिण में सम्भवतया आस्तम्ब भी दक्षिण में ही रहते थे।

व्याकरण :

व्याकरण से अभिप्राय 'मीमांसा' करने वाले शास्त्र से लगाया जाता है। इसमें नामों और धातुओं की रचना, उपसर्ग और प्रत्यय के प्रयोग समासों और सन्धियों आदि के नियम निहित है। ऋग्वेद में एक स्थल पर व्याकरण के महत्व को इस प्रकार बताया गया है : व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति एक ऐसा जीव है जो वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता, परन्तु व्याकरण के विद्वान के लिये वाणी अपने रूप को उसी प्रकार से अभिव्यक्त करती है जिस प्रकार शोभन वस्त्रों से सुसज्जित कामिनी अपने पति के सामने स्वयं को समर्पित करती हैं।[60] वररुचि के अनुसार व्याकरण के पांच मुख्य प्रयोजन हैं : रक्षा, उह, आगम, लघ एवं असन्देह। पंतज्जलि ने इसके अतिरिक्त तेरह प्रयोजनों का वर्णन महाभाष्य के आरम्भ में बड़ी सुन्दर भाषा में किया है। इसमें कुछ निम्न हैं : अपभाष्य, दुष्ट, अर्थज्ञान, धर्म लाभ एवं नामकरण।

---

58. मैक्डानेल, पूर्वोक्त, पृ० 246।
59. बलदेव उपाध्याय, पूर्वोक्त, पृ० 315।
60. ऋग्वेद, 10/71/4।

निरुक्त :

अर्थ की जानकारी के लिये स्वतन्त्र रूप से जो पदों का संग्रह है, वही निरुक्त कहलाता है। निरुक्त का शाब्दिक अर्थ 'उत्पति' है। यास्क ने निरुक्त की रचना की। आजकल यही यास्क रचित वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। निरुक्त में बारह अध्याय हैं। दो अन्य परिशिष्ट और भी हैं। इस तरह यास्क का ग्रन्थ चौदह अध्यायों में विभाजित है।

छन्द :

छन्द का महत्व यह है कि इसके ज्ञान के बिना मन्त्रों का उच्चारण तथा पाठ ठीक ढंग से नहीं किया जा सकता। संहिता तथा ब्राह्मणों में प्रधान छन्दों के नाम मिलते हैं। उस समय पिंगलाचार्य का प्राचीन छन्द सूत्र ही प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य में गायत्री, त्रिष्टुप, जगती, बृहति आदि छन्दों का प्रयोग मिलता है।

ज्योतिष :

नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु तथा सम्वतत्सर-काल के समस्त खण्डों के साथ यज्ञ-याग का विधान वृदों में पाया जाता है। इन नियमों के यथार्थ निर्वाह के लिये ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान-नितांत आवश्यक तथा उपादेय है।[61] वेदाँग ज्योतिष के प्राचीन आचार्यों में लगध मुनि का नाम प्रमुख है। इनके अतिरिक्त नारद संहिता ज्योतिष के 17 आचार्यों का उल्लेख करती है। इनके नाम हैं, ब्रह्मा, सूर्य, वशिष्ठ, अत्रि, मनु, सोम, लोमश, मरिचि, अंगिरा, व्यास, नारद, शौनक, भृगु, च्यवन, गर्ग, कश्यप, पराशर। कालान्तर में आर्यभट्ट, लल, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, मुंजाल, और भास्कराचार्य ने ज्योतिष-शास्त्र की विशेष उन्नति की।[62]

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन वैदिक-साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं व्यवस्थित है, जिससे हमें प्राचीन भारतीय समाज, राजनीति, धर्म, दर्शन एवं कला आदि के स्वरूप को जानने के लिये प्रभूत स्रोत-सामग्री सहज ही उपलब्ध हो जाती है।

महाकाव्य :

रामायण और महाभारत भारतवर्ष के ऐसे प्राचीन महाकाव्य हैं, जिन पर भारत की साहित्यिक परम्परा को गर्व होना उचित ही है। भारतीयों की दृष्टि में

61. बलदेव उपाध्याय, पूर्वोक्त, पृ० 359।
62. वि. च. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 7।

इनका अत्यधिक महत्व है। इन महाकाव्यों में मानवीय जीवन के लिये उदात्त सिद्धान्तों और दृष्टान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन महाकाव्यों ने भारतीयों को अत्यधिक प्रभावित किया है। इन महाकाव्यों में अन्तर्हित जीवन के आदर्शों और शिक्षाओं ने भारतीय समाज पर गहरी छाप छोड़ी है। "भारतवासियों की दृष्टि में इनका वही महत्व है जो कि यूनानियों की दृष्टि में उनके दो महाकाव्यों इलियड और औडसी का। परन्तु विषय की विवधता, तथ्य् की ऐतिहासिकता, शैलों की प्रकृष्ठता और भाषा की सुसम्बद्धता के दृष्टिकोण से ये भारतीय महाकाव्य यूनानी महाकाव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।[63] डा० ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं: 'ये दोनों महाकाव्य समस्त भारतीय समाज के लिये उसके कला साहित्य और दैनिक व्यवहार के सन्दर्भ स्रोत का कार्य करते हैं। दोनों महाकाव्य अपने प्रभाव के विस्तार में समान हैं, किन्तु अन्य दृष्टियों से एक दूसरे से भिन्न हैं। रामायण आदि काव्य माना जाता है, जबकि विश्वकोष सदृश महाभारत को इतिहास कहते हैं। रामायण में एक निश्चित एकता है और अधिकांशतः एक लेख की कृति है, जबकि महाभारत ठीक ही घोषित करता है कि वह संसार के सभी विषयों को स्पर्श करता है और कवियों की कई पीढ़ियों के प्रयत्नों का परिणाम है। व्यास की अपेक्षा वाल्मीकी का व्यक्तित्व अधिक स्पष्ट है।[64]

रामायण :

'रामायण' भारत का सर्वोच्च महत्वपूर्ण प्रतिनिधि काव्य है। विंटरनीत्ज के अनुसार यह सम्पूर्ण भारतीय जनता की सम्पत्ति बन गया है। और इसने शताब्दियों से एक बड़े राष्ट्र के विचारों तथा काव्य को प्रभावित किया है। कवि ने काव्य में भारतीय जीवन के सम्पूर्ण विकास को प्रस्तुत किया है। काव्य के प्रतिनिधि स्वरूप का एक दूसरा पहलू कवि द्वारा अभिव्यक्त भारत की एकता का दृष्टिकोण है उसे केवल भारत की भौगोलिक एकता का ही आभास नहीं था, वरन सांस्कृतिक एवं राजनीतिक एकता का भी आभास था। रामायण में सात काण्ड है: बाल काण्ड, अयौध्या काण्ड, अरण्य काण्ड, किष्किन्धा काण्ड, सुन्दर काण्ड युद्ध काण्ड एवं उत्तरकाण्ड। कुल मिलाकर 24,000 श्लोक हैं। रामायण के अवलोकन से ऐसा जान पड़ता है कि इसके प्रथम एवं सप्तम अध्याय बाद में लिये गये। परवर्ती काल में तो प्रक्षेपक बढ़ते ही गये हैं।

रामायण के रचना काल के सम्बन्ध में विद्वानों में गहरा मतभेद रहा है।

---

63. वि. च. पाण्डेय, प्रा. भा. का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 10।
64. डा. ईश्वरी प्रसाद, पूर्वोक्त, पृ० 509, 510।

बाल्मीकी-रामायण के विषय में ऐसा माना जाता है कि उसकी रचना त्रेतायुग में हुई, जो लगभग 8 लाख वर्ष पूर्व था, परन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जाता है। इसी प्रकार मैक्स बेवर का मत है कि रामायण का रचनाकाल महाभारत के भी बाद तीसरी अथवा चौथी शताब्दी का है। सर मोनियट विलियम्स ने रामायण का रचना काल तीसरी शती ई० पू० बताया है। इसी प्रकार कीथ महोदय ने इसका रचनाकाल छठी शताब्दी ई० पू० माना है। डा० बेनीप्रसाद के मत में महाकाव्य का प्रथम आरम्भ पांचवी शताब्दी ई० पू० में हो सकता है, परन्तु उसमें काफी बातें दूसरी शताब्दी ई० पू० अथवा इसके बाद भी जोड़ी गई प्रतीत होती है।[65] मेकडानल्ड ने रामायण के रचनाकाल को 500 ई० पू० आंका है।[66]

तुलसीकृत 'रामचरित मानस' एवं बाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' में काफी अन्तर है। बालिमकि रामायण में राजनीतिक बातावरण अधिक दृष्टिगोचर होता है और तुलसीदास कृत रामचरित मानस में भक्ति का भाव अधिक है। बालिमकि रामायण में इतिहास, राजनीति और यथार्थवाद है और तुलसीकृत राम चरित मानस में पुराणतत्व, भक्ति और आदर्शवाद। रामायण में राजनीति से सम्बन्धित अनेक बातों का विवरण मिलता है, जिनके फलस्वरूप हम तत्कालीन राजनैतिक अवस्था को देख सकते है। रामायण में एक जगह आता है 'जिन्होंने अर्थशास्त्र और दण्डनीति का अध्ययन किया हो, उन्हें ही आर्थिक एवं राजनीतिक मामलों पर विशेषज्ञ मानना चाहिये।[67] 'अयोध्या काण्ड' के प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में राजनीतिक तथा आर्थिक विचारों का सार मिलता है। बालिमकि की राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन की धारणा की उल्लेखनीय विशेषता कवि का अपना ढंग है, जिसके द्वारा वह जीवन के विविध स्थानों में काम करने वाले व्यक्तियों के मुख से आधारभूत विचार व्यक्त करता है। काव्य में ऐसे विचारों का वर्णन अनेक स्थानों पर किया गया है।[68]

महाभारत :

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों को परिष्कृत रूप में देखने के लिये 'महाभारत' एक महत्वपूर्ण स्रोत है। अधिकांश विद्वानों ने यह माना है कि महाभारत का युद्ध 2000 ई० पू० और 1000 ई० पू० के मध्य हुआ। इस युद्ध के पश्चात ही चारणों ने इसकी घटनाओं और पात्रों की वीरता के सम्बन्ध में गीतों

---

65. बेनीप्रसाद, दी स्टेट इन एनसियेंट इण्डिया, पृ० 104।
66. मैकडानल्ड, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० 285।
67. रामायण, युद्धकाण्ड, 63, 14, 16।
68. डा. परमात्माशरण,, पूर्वोक्त, पृ० 89।

का निर्माण किया होगा। इस प्रकार महाभारत के लिखे जाने के सैकड़ों वर्ष पूर्व महाभारत की मौलिक घटनायें चारण-गीतों के रूप में रही होगी। कालान्तर में इन्हीं चारण गीतों के आधार पर महर्षि वेद व्यास ने महाभारत को लेख बद्ध किया होगा। महाभारत का रचनाकाल क्या है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतक्य नहीं है। महाभारत ग्रन्थ का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन गृहयसूत्र में हुआ है।[69] रामायण के रचनाकाल (6000 ई० पू०) को आधार मानते हुए मैकडानल्ड महाभारत का रचना काल 500 ई० पू० मानते हैं[70]। विण्टरनीत्ज के अनुसार यह ग्रन्थ 400 ई० पू० में रचित हुआ। इस विषय में डा० बेनी प्रसाद का मत है 'इस महान काव्य के इतिहास का आरम्भ ईसा से 10 शतब्दी के पूर्व तक देखा जा सकता है। साहित्यिक महाकाव्य में स्रोत भाटों के परम्परागत वर्णनों में मिलते हैं, ये भाट न तो पुरोहित थे और न विद्वान ही।[71] इसके अलावा अन्य कई विद्वानों ने अपने मत स्पष्ट किये हैं।

महाभारत में एक लाख श्लोक हैं। मैकडानल्ड के मतानुसार मूल महाभारत में केवल 20,000 हजार श्लोक थे।[72] महाभारत के 'शान्तिपर्व' में दण्डनीति (राजशास्त्र), राजधर्म (राजाओं के कर्तव्य), शासन पद्धति, मन्त्री और कर व्यवस्था के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण विचार मिलते हैं। सभापर्व में सभा की रचना, आपातकालीन नीति और आदि पर्व में 'मैक्यावली' जैसे सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। राजा का कर्तव्य महाभारत में प्रजा का हित करना बताया गया है। प्रजा की सम्पन्नता, सुख, शान्ति और समृद्धि ही राजा का एक मात्र लक्ष्य है। राजा के आचरण की तुलना गर्भिणी स्त्री से की गई है। क्योंकि वह गर्भस्थ शिशु के पालन पोषण, वृद्धि और विकास के लिये सदेव सचेष्ट रहती है। राजा का प्रत्येक कार्य प्रजा के हित में होना चाहिये।

'पुत्रा इव पितुगेहे विषये शरथ मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥[73]

अर्थात् उस राजा को सर्वश्रेष्ठ कहना चाहिये जिसके राज्य में प्रजा, पिता के घर में पुत्र की भांति निर्भय विचरती है।

---

69. आश्वलयन गृह्यसूत्र, 3, 3, 1।
70. माकडानल्ड, पूर्वोक्त, पृ० 285।
71. बेनीप्रसाद, पूर्वोक्त, पृ० 77।
72. वि. च० पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 207।
73. महा. शान्तिपर्व, अध्याय 57, श्लोक 33।

धर्मशास्त्र और पुराण :

धर्मशास्त्रों में प्रमुख स्थान स्मृतियों का है जिनका भारतीयों के जीवन से सम्बन्धित नियमों के साहित्य में सबसे अधिक महत्व है। धर्मशास्त्रों में धर्म, धार्मिक रीतियों, गृहस्थ व सामाजिक जीवन, कानून के साथ-साथ राज्य का भी विवेचन किया गया है। स्मृतियों के अन्तर्गत मनुस्मृति एवं याज्ञवल्वय स्मृति प्रमुख आती है। इन धर्मशास्त्रों का महत्व इस कारण से है कि ये हिन्दू शासन पद्धति के सिद्धान्तों के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। उनका सम्बन्ध जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र से है और उनमें प्रत्येक विषय के बारे में नियम दिये गये हैं क्षत्रियों के कर्तव्यों के वर्णन में उन्होंने प्रशासन के विषय में भी विवेचन किया है।[74]

मनुस्मृति :

धर्मशास्त्रों में सर्वप्रमुख स्थान मनुस्मृति का है। इसका सम्बन्ध महाभारत से भी है। मनुस्मृति के रचनाकाल के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा जा सकता। कुछ श्लोक इसमें बहुत पुराने लगते हैं और महाभारत में भी कई स्थानों पर मनु आता है। प्राचीन हिन्दू परम्परा के अनुसार मनु मनुष्यों का प्रथम राजा था। यद्यपि मनु के वचन या श्लोक अति प्राचीन थे, परन्तु समय बीतने के साथ उनमें वृद्धि होती रही और अन्त में वे वर्तमान 'मनुस्मृति' या मानव धर्मशास्त्र के रूप में संगृहित कर लिये गये। मनुस्मृति बहुत बाद की रचना है। इसमें प्राचीनतम धर्मग्रन्थों का प्रमाण देते हुए रचियता अत्रि, वशिष्ठ, गौतम और शौनक का उल्लेख किया गया है पर याज्ञवल्क्य के 'धर्मशास्त्र में और 'विष्णु' में जो मनु पर अधिक आश्रित है, स्वयं 'मनु' का प्रमाण दिया गया हैएवं नारद और बृहस्पति में भी ऐसा किया गया है। ये सभी उसके बाद की कृतियां हैं। 'मनुस्मृति' बौद्ध-युग केबाद की रचना है।[75] मैक्सूमलर के मतानुसार 'मनुस्मृति' की रचना चौथी शताब्दी के बाद की गई। डा० जयसवाल का मत है कि 'मनुस्मृति' की रचना ईसा से दो सौ शताब्दी पूर्व तथा दो सौ शताब्दी के बाद मध्यकाल में हुई।[76]

मनुस्मृति के बारह अध्याय हैं और सातवें अध्याय में राजा के कर्तव्यों का उल्लेख है। आठवें तथा नवें अध्याय में दीवानी-फौजदारी कानून और ऋण, मानहानि विषयों की चर्चा है। मनुस्मृति में तत्कालीन राजनीतिक जीवन का

---

74. डा. परमात्मा शरण, पूर्वोक्त, पृ० 194।

75. रा. कु. मुकर्जी (अनु. वासुदेवशरण अग्रवाल) हिन्दू सभ्यता, पृ० 156-57।

76. के. पी. जायसवाल, मनु एवं याज्ञवल्क्य, पृ० 21।

पर्याप्त परिचय मिलता है। मनु ने राज्य के सातांग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

'स्वाभ्यमात्मौ पुरं राष्ट्र को शंदडौ सुहत्तथा।
सप्त प्रकृतयो हयेताः सप्तांग राज्यमुच्यते ।।[77]

मनु के अनुसार राज्य के सात अंग— स्वामी, आत्मात्य, पुर, राष्ट्र, कोण, दंड़ तथा मित्र हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति :

याज्ञवल्क्य-स्मृति में मनु की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील विचार है एवं यह कृति मनु की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है। याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना का काल 150 और 200 ई० के मध्य का माना जाता है। इसके प्रारम्भ में 'मन्वत्रिविष्णु हारित इत्यादि स्मृतियों के नाम दिये गये हैं। इससे पता चलता है कि सब स्मृतियों का अवलोकन करने के उपरान्त लेखक ने अपनी स्मृति बनाई है। डा० बेनी प्रसाद का मत है, 'यह एक मौलिक ग्रन्थ की अपेक्षा संग्रह अधिक है। लेखक ने धर्मसूत्रों, मनु, विष्णु और पुराणों आदि से अनेक विचार लिये हैं किन्तु उसके व्यापक ढंग और स्पष्ट शैली ने उसे काफी लोक प्रिय बना दिया।[78] याज्ञवल्क्य स्मृति अनेक प्रकरणों में विभाजित है जिनमें से कुछ मुख्य के शीर्षक इस प्रकार हैं, ब्रह्मचारी, विवाह, गृहस्थ धर्म, स्नातक धर्म, दान धर्म, राज धर्म, ऋणदान, साक्षी, लेख्य, दिव्य, दान-विभाग, दण्ड पारुष्ण, यति धर्म आदि। इसमें कुल 1010 श्लोक हैं, जो 3 अध्यायों में संगृहीत किये गये हैं। प्रथम अध्याय 13 प्रकरणों में बंटा है और हमारी दृष्टि से यही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।[79]

पुराण :

पुराण शब्द का अर्थ है प्राचीन घटना-वर्णन। वैदिक गाथायें पुराणों में दिखाई पड़ती हैं। इसलिये न केवल प्राचीनता की दृष्टि से वरन् राजनैतिक इतिहास के दृष्टिकोण से भी पुराण महत्वपूर्ण माने जाते हैं। अथर्ववेद चारों वेदों के साथ पुराण का संकेत करता है। सूत्र साहित्य के समय में वास्तविक पुराण प्रादुर्भूत हुये और गौतमसूत्र एक राजा को वेद और स्मृति ग्रन्थ के साथ

---

77. मनुस्मृति, 9-294।
78. बेनीप्रसाद, थ्यौरी आफ गवर्नमेंट इन एनसियन्ट इण्डिया, पृ० 173।
79. डा. परमात्माशरण, पूर्वोक्त, पृ० 168।

पुराण को भी विधि के लिये प्रमाण मानने का परामर्श देता है। आप स्तम्ब धर्म सूत्र में पुराण के तीन उद्दरण हैं जिनमें एक भविष्य पुराण से है। महाभारत में पुराणों से आने वाले आख्यान, गाथाओं और श्लोकों को परिवर्तित किया है।[80] उपयुक्त विवरण से पुराणों के अन्तर्गत वह समस्त प्राचीन साहित्य आ जाता है। जिसमें प्राचीन भारत के इतिहास, विज्ञान, धर्म, आख्यान आदि का वर्णन हो पुराणों की संख्या 18 है :

1. ब्रह्मपुराण,
2. पद्म पुराण,
3. विष्णु पुराण,
4. शिव पुराण,
5. भागवत् पुराण,
6. नारदीय पुराण,
7. मार्कण्डेय पुराण,
8. अग्निपुराण,
9. भविष्य पुराण,
10. ब्रह्मवैवर्त पुराण,
11. लिंग पुराण,
12. वराह पुराण,
13. स्कन्द पुराण,
14. वामन पुराण,
15. कूर्म पुराण,
16. मतस्य पुराण,
17. गरुण पुराण और
18. ब्रह्माण्ड पुराण।

पुराणों मे पांच विषयों का वर्णन मिलता है :

1. सर्गः
2. प्रतिसर्ग,
3. वंश,
4. मनवन्तर,
5. वंशानुचरित।[81]

---

80. डा. ईश्वरी प्रसाद, पूर्वोक्त, पृ० 513।
81. यू. एन. घोषाल, ए हिस्ट्री आफ इंडियन पालिटीकल आइडियाज, पृ० 326।

पुराण विष्णु, शिव इत्यादि किसी एक या दूसरे देवता की उपासना हेतु समर्पित है। उनमें दर्शन, सांख्य, योग और वेदान्त पर भी सामग्री मिलती है। उनमें वर्णों और आश्रमों के कर्तव्य एवं अधिकार ब्राह्मणों के सामान्य अधिकार, विशेषत: अन्त्येष्टि संस्कार देवताओं के सम्मान में उत्सव और अनुष्ठान पर भी अध्याय है। परम्परागत रूप से व्यास पुराणों के संकलनकर्ता माने जाते हैं।[82]

बौद्ध ग्रन्थ :

पालि-साहित्य का प्राचीन रूप हमें बौद्ध वचनों के संग्रह के रूप में मिलता है। बुद्ध-वचनों के संग्रह को 'त्रिपिटक' कहते हैं। बाह्यलर महोदय के अनुसार 'पिटक' का अर्थ 'टोकरी' है। उनके अनुसार प्राचीन काल में हस्तलिपियां टोकरियों में संरक्षित की जाती थी। बौद्ध साहित्य तीन पिटकों में समाहित हैं :

1. **विनय पिटक** : इसमें भिक्षु और भिक्षुणियों के संघ एवं दैनिक जीवन से सम्बन्धित आचार विचार, विधि-निषेध और यम-नियम आदि हैं। इसके निम्न विभाग बताये गये हैं :

(अ) सुत्त विभंग-- इसके दो उपविभाग हैं : 1---महाविभंग और 2 -- भिक्षुणी विभंग।

(ब) सन्धका - इसके दो उपभाग हैं : 1--- महावग्ग 2 -- चुल्लवग्ग।

(स) परिवार अथवा परिवार पाठ।[83]

2. सुत्त पिटक: सुत्त पिटक में तर्क और सम्वादों के रूप में बुद्ध के सिद्धान्तों को संग्रहीत किया गया है, इसके गद्य सवाद हैं, मुक्तक छन्द हैं, छोटी-छोटी कहानियां भी हैं। इसके पांच निकाय हैं।

(अ) दीघ निकाय,
(ब) मज्जिझक निकाय,
(स) सूयुक्त निकाय,
(द) अंगुत्तर निकाय,
(य) खुद्दक निकाय,

3. **अभिधम्म पिटक** : अभि का शाब्दिक अर्थ है उच्चतर। अभिधम्म पिटक का विषय धर्म होते हुये, उसमें उच्चतर व्याख्या और दर्शन अभिव्यक्ति

---

82. डा. ईश्वरी प्रसाद, पूर्वोक्त, पृ० 513।
83. वि. च. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 11।

होती है। यह दो संस्करणों में है। इसका एक संस्करण पालि में तथा दूसरा संस्कृत में है।

इन पिटकों के अतिरिक्त बौद्धों का अनुपिटक-साहित्य भी है। 'अनुपटिक' वह साहित्य है, जिसकी रचना त्रिपटिक साहित्य के बाद हुई। इस साहित्य को तीन भागों में बांटा गया है : (1) पूर्व-बुद्ध घोष युग, (2) बुद्ध घोष युग एवं (3) परवर्ती बुद्धघोष युग अथवा टीका युग। पूर्व बुद्ध घोष में नेतिपकरण, पैंटाकोपरेश, मिलिन्दपन्हो, सुत्तसंग्रह एवं दीप वंश आते हैं। बुद्धघोष में 'विशुद्ध मग्ग', बुद्ध दत्त, घम्मपाल आदि की अठ्ठ कथायें आती हैं।

जातको (कथाओं) के अनुसार राजा स्वेच्छाचारी होता है, परन्तु राजा के दस कर्तव्यों (दस राज घम्मे) दानशीलता, नैतिक आचरण, त्याग सत्य नम्रता क्षमा, किसी को कष्ट न पहुंचाना आदि का उल्लेख मिलता है। चूंकि राजाओं के ऊपर कोई संवैधानिक प्रतिबन्ध न थे, इसलिये अत्याचारी राजाओं के विरुद्ध जनता विद्रोह कर सकती थी।[84] जातकों में एक जगह आता है कि राजा की नियुक्ति के लिये प्रजा की स्वीकृति भी लेने की आवश्यकता भी समझी जाती थी। बौद्ध साहित्य से बौद्ध संघों के विषय में भी पता चलता है, जिसके सदस्य राजा कहलाते थे और उनके बेटे उप-राजा, उनकी समिति (केन्द्रीय सभा) होती थी।

जैन ग्रन्थ :

जैन मतावलम्बी अपने धार्मिक साहित्य को सिद्धान्त या आगम कहते हैं। इसमें 12 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्ण, 6 छन्द सूत्र, 4 मूल सूत्र और नन्दि सूत्र तथा अनुयोग सूत्र की गणना होती है। इनमें से अंगों को छोड़कर शेष की सूची और नामों में भी अन्तर मिलते हैं। उदाहरण के लिये प्रकीर्णकों की संख्या अनिश्चित है। इसी प्रकार से सिद्धान्तों की परम्परागत संख्या 45 है, लेकिन विभिन्न स्थलों पर दी गई पुस्तकों की संख्या 45 और 50 के बीच आती है।[85]

जैन-धर्म-ग्रन्थ किसी एक काल की रचना नहीं हैं। उनका संगठन भिन्न-भिन्न कालों में हुआ। आज जैन आगम का जो आकार-प्रकार है, वह प्रारम्भिक आकार-प्रकार से बहुत कुछ भिन्न है।[86]

---

84. डा. परमात्माशरण, पूर्वोक्त, पृ० 11।
85. डा. ईश्वरी प्रसाद, पूर्वोक्त, पृ० 518।
86. डा. विमलचन्द्र पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 17।

जैन साहित्य में महावीर के शिष्यों की रचनायें तथा बाद में लिखे गये ग्रन्थ आते हैं। इनमें "आचारंग सूत्र" एवं "उत्तराध्याय सूत्र" महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इनमें राजनीति सम्बन्धी एवं आचार शास्त्र के आपसी सम्बन्धों का विवरण है। जैन ग्रन्थों में जिनसेन का "आदिपुराण" सोमदेव का "नितिवाक्यामृतम्" और हेमचन्द्र का "लध्वर नीति" आदि आते है। जिनसैन में राजशास्त्र एवं धर्म शास्त्र के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि प्रथम विद्या के नाम से सांसारिक वस्तुओं पर भी मन ठहरता है, किन्तु धर्मशास्त्र का ज्ञान इस लोक तथा परलोक दोनों पर मन को आकृष्ट करता है। राजा को सन्मार्ग का ही पालन करना चाहिये। दण्ड के विषय में लेखक का यही मत है। उसके अभाव में मत्स्यन्याय फैल जायेगा। दण्ड डर से ही मनुष्य कुमार्ग से बचते हैं। राजा उचित दण्ड की व्यवस्था करता है। उसे शासन में सफलता मिलती है। राजा को अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिये और राजा को अपने सम्बन्धियों और शत्रुओं के बीच भी उसका व्यवहार निष्पक्ष होना चाहिये।

कौटिल्ययी अर्थशास्त्र :

"कौटिल्यम् अर्थशास्त्रम्" का प्राचीन भारत के सन्दर्भ में हमारे ज्ञान को विस्तृत करने में बहुत योगदान है इस समग्र ग्रन्थ का निर्माण आचार्य चाणक्य ने किया, जो मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त के गुरु एवं प्रधानमत्री थे। कौटिल्य चाणक्य का ही नाम है। प्राचीन भारत के सन्दर्म में, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, राजशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। जिसका विषय राजनीति से ओत प्रोत है। सलैटोरे इस विषय में लिखते हैं— 'प्राचीन भारत की राजनैतिक विचार धाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है.[87] उसका महत्व चार कारणों से है : प्रथम, उसका अर्थशास्त्र पूर्वगाभी अर्थशास्त्रों का संग्रह अथवा सार है। कौटिल्य का उद्देश्य पूर्णतया व्यावहारिक था और अर्थशास्त्र की रचना इहलोक तथा परलोक की प्राप्ति के मार्गदर्शन हेतु की गई। द्वितीय, कौटिल्य वास्तव में यथार्थवादी था और उसने ऐसी समस्याओं के विषय में लिखा है, जिनका मनुष्य को इहलोक में सामना करना पड़ता है। तृतीय, राज्य के विषय में लिखने वाले सभी महान लेखकों व शिक्षकों में कदाचित वह अकेला है, जिसने राजनीति के विषय में स्वतन्त्र रूप से अर्थात् उसे धर्म से पृथक करके लिखा है। चतुर्थ, कौटिल्य ने देश को सुदृढ़ और केन्द्रियकृत शासन प्रदान किया जैसाकि उससे पूर्व कभी भारतीयों ने न जाना था।

---

87. बी. ए. सलेटोरे, एनशियेन्ट इण्डियन पालिटिकल थाट एण्ड इन्स्टयूशन्स, पृ० 50-54।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में बत्तीस अनुच्छेद, प्रभाग, प्रन्द्रह अधिकरण तथा एक सौ पचास अध्याय है। राजनीतिक समस्याओं के वैज्ञानिक उपगमन का वह एक निर्देशन है जो एक निश्चित विज्ञान की सब कसौटियों व अपेक्षाओं को पूरा करता है।[88] प्रथम अधिकरण में राजकुमार की शिक्षा के विषय में एवं राजा से दुर्वह कर्तव्यों का निर्वाह करने की अपेक्षा और उसे शासन चलाने में मन्त्रीगण तथा गुप्तचर सहायता प्रदान करते हैं। दूसरे अधिकरण में अधीक्षकों (जिनके द्वारा शासन चलाया जाता था) की चर्चा की गई है। तीसरे में कानून को समझाया गया है। चौथे में पुलिस द्वारा अवांछनीय व्यक्तियों के दमन की चर्चा है। पांचवे में राज्य के सप्तांग सिद्धान्त और अंतराज्य सम्बन्धों का विवरण है। छठे में शान्ति और उद्योग का वर्णन है। सातवें में कामों के छः सम्मुख ढंग तथा आठवें अधिकरण में राजा के दुर्गुणों का विवेचन किया गया है। नौवें तथा दसवें अधिकरण में युद्ध की चर्चा है। ग्यारहवें में यह बताया गया है कि किस प्रकार वैरी की सेना में भेदभाव पैदा कर उन्हें नष्ट किया जा सकता है। बारहवें में यह बताया गया है कि किस प्रकार अपने साम्राज्य का विस्तार किया जाय। तेहरवां अधिकरण सेना से घिरे नगर को कब्जे में कर लेने के लिये उपदेह देता है। चौदहवें में विष के वीभत्स प्रयोग के बारे में बताया गया है। अन्तिम पंद्रहवां कार्य की योजना और चर्चा के दौरान उपयोग में लाये गये बत्तीस सिद्धान्तों का विवरण देता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र का रचनाकाल चौथी शती पूर्व माना गया। श्री आर० रामाशास्त्री जो इस ग्रन्थ के प्रथम सम्पादक व अन्वेषक हैं, भी इसकी तिथि 400 ई० पू० निश्चित करते हैं। फ्लीट के अनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल काफी पूर्व की तिथि का है। वह यह भी बताते हैं कि इस ग्रन्थ से अनेक ऐसी सूचनायें मिलती हैं जो मैगस्थनीज की इण्डिका तथा अभिलेखों में भी समान रूप से वर्णित है।[89]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में एक स्थान पर आया है :

सर्वशास्त्रारअयुनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटल्यैन नरेन्द्रार्थं शासनस्य विधिः कृत।।

अर्थात् सब शास्त्रों का अनुशीलन करके और प्रयोग द्वारा कौटिल्य ने 'नरेन्द्र'

---

88. कौ. अर्थ. का सर्वेक्षण, डा. एम. वी. कृष्णाराव, (अनु. विश्वेश्वरय्या) पृ० 2।
89. अर्थशास्त्र (अनुवादक रामाशास्त्री), इंट्रोफेक्टरी नोढ़, सप्तम, संस्करण)।

के लिए शासन की यह "विधि" बनायी है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के एक अन्य श्लोक से भी यह पता चलता है कि विष्णुगुप्त (कौटिल्य) ने स्वयं सूत्रों की रचना की और स्वयं उन पर भाष्य लिखा है।[90] एम० वी० कृष्णाराव यह मत प्रस्तुत करते हैं कि अर्थशास्त्र का रचियता चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था।[91] इसी प्रकार रोमिला थापर लिखती है, कौटिल्य द्वारा वर्णित समाज यदि पूर्व मौर्य-कालीन नहीं है तो मौर्य कालीन अवश्य है।[92] इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र के रचियता कौटिल्य अथवा चाणक्य ही थे। जैसे कामन्दक ने अपने ग्रन्थ "नीतिसार" की भूमिका में वर्णन किया है। कामन्दक की तरह दण्डी अर्थशास्त्र का रचियता कौटिल्य को बताया है।

इसी प्रकार गणपति शास्त्री के अनुसार अर्थशास्त्र के रचियता का नाम कौटिल्य था, क्योंकि वह कुटुल गोत्र का था तथा चणक का पुत्र होने के कारण उसे चाणक्य कहा जाता था। मल्लिनाथ ने रघुवंश आदि की अपनी टीकाओं में "अत्र कौटिल्य" लिखकर अर्थशास्त्र से उद्धरण दिये हैं।[93] उपर्युक्त सब साक्ष्य यही सिद्ध करते हैं कि कौटिल्य ही अर्थशास्त्र के निर्माण कर्ता थे और इसका निर्माण चौथी सदी ई० पू० में हुआ, कतिपय विद्वानों का मत है कि इस ग्रन्थ का निर्माण तीसरी चौथी सदी ईस्वी में हुआ। इसका आधार यह बताया गया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में यूनानी राजदूत मैगस्थनीज कौटिल्य का चन्द्र गुप्त के मन्त्री के रूप में वर्णन कहीं पर भी नहीं करता है। इसके अलावा प्रो० जाली यह मत व्यक्त करते हैं कि इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर "इति कौटल्यः" लिखकर कौटिल्य के मत को उद्धृत किया है।[94] अगर कौटिल्य -वय इस ग्रंथ के लेखक होते तो वे कौटिल्य के मत को उल्लिखित करने की कोई आवश्यकता महसूस न करते। वे यह भी कहते हैं कि कौटिल्य अर्थशास्त्र की रचना तृतीय सदी में हुई। के० पी० जायसवाल ने अपने युक्तिपूर्ण तर्कों द्वारा अनेक ऐसे उद्धरण रखे हैं जो कि जौली के मत की प्रामाणिकता को आघात पहुंचाते हैं। वे कहते हैं: अर्थशास्त्र कौटिल्य की ही कृति है और उसकी रचना चतुर्थ शती ई० पू० में ही हुई थी।[95] रोमिला थापर भी लिखती है कि अर्थशास्त्र के कुछ खण्डों से यह

90. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 15/1।
91. डा. एम. वी. कृष्णाराव स्टडीज इन कौटिल्य पृ० 2।
92. रोमिला थापर, अशोक एण्ड डिवलाइन आफ मौर्यज, पृ० 218।
93. रघुवंश, 17/49।
94. कौ० अर्थशास्त्र, 1/1।
95. के. पी. जायसवाल, हिन्दी पालिटी, पृ० 364-381।

प्रतीत होता है कि वह ग्रन्थ जातक ग्रन्थों के समकालीन हैं। इसकी पुष्टि दोनों ग्रन्थों में किये गये समान आर्थिक विवरण से होती है।[96]

अर्थशास्त्र के रचियता के नाम से सम्बन्धित अनेक मत हैं। हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि में अर्थशास्त्र के रचयिता के अनेक नामों का उल्लेख किया है। वात्सायन, मल्लिनाथ, कुटल, चाणक्य, द्रमिल, पक्षिल स्वामी, विष्णुगुप्त और अंगुल। सम्भवतः इस आचार्य का व्यक्तिगत नाम विष्णु गुप्त था। कौटलीय अर्थशास्त्र सम्भवतः इन्हीं विष्णुगुप्त की कृति है। अर्थशास्त्र एवं सम्राट अशोक के अभिलेखों में अनेक इसी प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं, जो दोनों की निकटता को प्राभाणिकता प्रदान करते हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि कौटिल्ययी अर्थशास्त्र की रचना कौटिल्य ने की, जो चाणक्य के नाम से भी जाना जाता था और इस ग्रन्थ का रचनाकाल चौथी शताब्दी ई० पू० था।[97]

इस ग्रन्थ से जहां मौर्य साम्राज्य की शासनविधि के सम्बन्ध में पता चलता है, वही प्राचीन जनपदों के स्वरूप और शासन के विषय में भी अनेक उपयोगी निर्देश प्राप्त होते हैं। भारत के राजदर्शन-सम्बन्धी विचारों को जानने के लिए भी कौटिल्य अर्थशास्त्र एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। कौटिल्य की सम्मति में राजनीतिशास्त्र के दो पहलू होते हैं—दर्शनात्मक और प्रयोगात्मक। इस ग्रन्थ में दोनों ही प्रकार की राजनीति का वर्णन है।[98]

नीतिशास्त्र :

नीतिशास्त्र के अन्तर्गत कामन्दकीय नीतिसार और शुक्रनीति का स्थान प्रमुख है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के उपरांत राज्य और शासन पर रचित ग्रंथों में इनका महत्व सर्वोपरि है।

कामन्दकीय नीतिसार : कामन्दकीय नीतिसार की रचना छठी या सातवां शताब्दी में मानी जाती है। विंटरनीत्ज यह मानते हैं कि यह आठवीं शताब्दी की है।[99] कामन्दकीय नीतिसार 19 सर्गों में विभाजित है और प्रत्येक सर्ग में 15 से लेकर 70 तक श्लोक हैं। इस ग्रन्थ के विषय में डा० घोषाल लिखते हैं—

---

96. रोमिला थापर, पृ० 220।
97. सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 21।
98. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० 29।
99. बेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनशियन्ट इंडिया, पृ० 257।

'कामन्दकीय नीतिसार राज्य पर प्रथम ग्रन्थ है जो काव्य में लिखा गया। इसका बाद में काफी प्रभाव रहा। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि इस प्रकार पर कई टीकायें लिखी गई और राज्य पर लिखे गये अनेक ग्रन्थों में इसके श्लोकों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।' घोषाल आगे लिखते हैं - कौटिल्य को लेखक अपना गुरु बताता है। लेखक ने अपनी रचना की सीमाओं के भीतर कौटिल्य के विचारों व मतों को माना है उसके तर्कों को स्वछंदपूर्वक काव्य रूप में अपनाया।[100] अलतेकर इसे कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सारांश मात्र मानते हैं।[101]

कामन्दकीय नीतिसार ने राजनीति के सन्दर्भ में केवल राजा और उसके परिवारों के वर्णन तक ही सीमित रखा है। राजा के कर्तव्यों के सम्बन्ध में इसमें आता है कि राजा को चाहिये कि प्रथम अपने को विनम्र करे, उसके बाद मन्त्री फिर मृत्य, फिर पुत्र और उसके बाद प्रजा को सम्पन्न करे। प्रजा में अनुरक्त और प्रजा पालन में तत्पर राजा महालक्ष्मी को प्राप्त करता है।[102] कामन्दक राज्य को सप्तांग मानता है, यथा :

स्वाभ्यमात्यश्च राष्ट्रन्च दुर्ग कोशौ वलंसुहृत्
परस्परोपकारीदं सत्पांग राज्यमुच्यते।[103]

यह ग्रन्थ राज्य के सात अन्ग स्वामी, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष सेना और मित्र बताता है। ये सब एक दूसरे के पूरक माने हैं।

शुक्रनीति : शुक्र प्राचीन भारत के एक प्रसिद्ध आचार्य थे, जिनके द्वारा इस राजधर्म एवं दण्डनीति से परिपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण हुआ। इसमें राज्य अथवा शासन तन्त्र का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया गया है, परन्तु इसमें शासन व्यवस्था का जैसा सांगोपांग विवरण है वैसा अर्थशास्त्र के बाद अन्य ग्रन्थ में नहीं है।[104] महाभारत के अनुसार शुक्रनीति एक सहस्र अध्यायों का ग्रन्थ होना चाहिए परन्तु इसमें मात्र 4 अध्यायों के अन्तर्गत 2200 श्लोक हैं। यह नीतिकार ने स्वयं कहा है। इस नीतिसार का जो राजा रात दिन चिन्तन करेगा वही राजभार

---

100. यू. ए. न. घोषाल, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पालिटिकल आइडियाज, पृ० 370-371।
101. अलतेकर, पूर्वोक्त, पृ० 13।
102. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग 1, श्लोक 17-24।
103. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग 4, श्लोक 1।
104. डा. ईश्वरी प्रसाद, पूर्वोक्त, पृ० 516।

को उठाने में समर्थ होगा। शुक्रनीति के समान दूसरी कोई नीति तीनों लोकों में नहीं है, व्यवहारी मनुष्यों के लिए शुक्र की नीति ही है और सब कुनीति है।[105] सोभरँव सूरी के बाद शासन पर लिखे गये हिन्दू ग्रन्थों में यह सबसे अधिक उल्लेखनीय है। इससे पूर्वगामी महाभारत, मनु और कामन्दक से भी तथा अप्रत्यक्ष रूप में कौटिल्य से सामग्री को स्वच्छंदता पूर्वक और व्यापक रूप में लिया गया है। शुक्रनीति विशेष रूप से इसी कारण ध्यान देने योग्य है कि इसमें हिन्दू राजनीतिक विचारों का अन्तिम सारांश मिलता है और कुछ अल्प महत्व की नई विशेषतायें भी इसमें मिलती है।[106] अलतेकर शुक्रनीति के सन्दर्भ में निम्न विचार प्रस्तुत करते हैं—'शुक्रनीति भी प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र के अध्ययन के लिये बड़े काम की है। अन्य ग्रन्थों के समान इसमें भी राज्य अथवा शासन तंत्र का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया गया है। परन्तु इसमें शासन व्यवस्था का जैसा सांगोपांग विवरण है वैसा अर्थशास्त्र के बाद किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं। अतः इसमें भी नृपतंत्र का ही वर्णन है। राजा और उसके मंत्रियों तथा कर्मचारियों के कार्यों के अतिरिक्त इसमें पर राष्ट्र और राजनीति का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। न्याय की व्यवस्था का भी इसमें पूरा विवरण है।[107]

शुक्रनीति के रचनाकाल में भी अनेक मत हैं—कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में 'ओम नम शुक्र वृहस्पतिभ्याम' लिखा है। इससे लगता है कि यह ग्रन्थ कौटिल्य के समय उपलब्ध था। डा० वेनी प्रसाद लिखते हैं—'वस्तुस्थिति यह है कि इसका अधिकांश भाग 11वीं और 12वीं सदी में लिखा गया, किन्तु इसमें कुछ अंश 14वीं शताब्दी तक जुड़ता चला गया।[108] घोषाल एवं राजेन्द्रलाल मित्र इसकी रचना 13वीं और 16वीं शताब्दी के मध्य मानते हैं।

शुक्र के मतानुसार शासन पद्धति का ध्येय समाज की सर्वांगीण उन्नति साध्य करना था न कि डाकुओं को दण्ड देना या सदिशादि व्यसनों को काबू में रखना था। शुक्र राजा के स्वेच्छाचारी होने के विरुद्ध थे। वे एक स्थान पर लिखते हैं :

> प्रभु स्वातन्त्रयमापन्नो त्यनर्थायाक कल्पते,
> भिन्न राष्ट्री भवंत सयो भिन्न प्रकरतिरेव च ।।[109]

अर्थात् राजा स्वेच्छाचारी हो, तो उसका परिणाम अनर्थ ही होगा। शीघ्र

---

105. शुक्रनीति, अध्याय 4 श्लोक 1241-43।
106. यू. एन. घोषाल, पूर्वोक्त, पृ० 494-95।
107. स. अलेतकर, प्रा. भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 14।
108. डा. बेनीप्रसाद, पूर्वोक्त, पृ० 245।
109. शुक्रनीतिसार, 2/4।

ही राज्य भी उसके विरुद्ध हो जायेगा और मन्त्री भी। इसके अतिरिक्त न्याय की न्याय की व्यवस्था का भी इसमें पूरा विवरण मिलता है। चार प्रकार के न्यायालयों की चर्चा इसमें की गई हैं। किन्तु विविधशास्त्र विवरण नही है।

'कामन्दकीय नीतिसार' एवं 'शुक्रनीतिसार' के अतिरिक्त नीतिशास्त्र में निम्न ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं :

सोमदव कृत	'नीतिवाक्यमृतम'
हेमचन्द्र कृत	'लध्वर: नीति'
भर्तृहरि कृत	'नीतिशतक'
भोज कृत	'युक्ति कल्पतरु (1025 ई०)
लक्ष्मी धर कृत	'राजनीति कल्पतरु (1125 ई०)
सोमेश्वर कृत	'अभिलषिनार्थ चिंतामणि' (1125 ई०)
देवण भट्ट कृत	'राजर्नातिकाड' (1300 ई०)
चन्द्रेश्वर कृत	'राजनीति रत्नाकर' (1325 ई०)
नीलकण्ठ कृत	'नीति मयूख' (1625 ई०)
मित्र मिश्र कृत	'राजनीति प्रकाश' (1650 ई०)

यह सब ग्रन्थ राजर्नाति विषय न होने पर भी प्राचीन भारत की राजनीति पर प्रकाश डालते हैं।

अन्य साहित्य :

अन्य साहित्य की श्रेणी में निम्नत: ग्रन्थों को रखा जा सकता है :

1. संस्कृत के अन्य ग्रन्थ,
2. विदेशी लेखकों द्वारा रचित ग्रन्थ एवं विवरण,
3. ऐतिहासिक ग्रन्थ।

संस्कृत के अन्य ग्रन्थ :

संस्कृत के अन्य ग्रन्थ में कालिदास का रघुवंश (नाटक), बाण का कादम्बरी, पाणिनी का व्याकरण (अष्टाध्यायी) विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, बाण भट्ट का हर्षचरित, कालिदास का माल विकाग्निमित्र (नाटक), कल्हण की राजतंरगिणी, शूद्रक का मृच्छकटिक, सोमदेव का कथासरितसागर आदि हैं। इनमें पाणिनी का व्याकरण और कालिदास का रघुवंश राजनैतिक दृष्टिकोण से पर्याप्त महत्वपूर्ण है। वैसे इन सबमें येन केन राजनीति से सम्बन्धित आवश्यक सामग्री मिल जाती है।

विदेशी लेखकों द्वारा रचित ग्रन्थ एवं विवरण :

विभिन्न कालों में अनेक विदेशियों ने जनश्रुतियों अथवा स्वयं के अनुभव के

आधार पर भारत के विषय में अपने विवरण, लेख अथवा ग्रन्थ लिखे थे। आज उनमें से बड़ी अल्प मात्रा में मिलते हैं जो कि हमारी स्रोत सामग्री है। ग्रीक लेखकों के ग्रन्थों में अत्यधिक महत्व मैगस्थनीज कृत 'इन्डिका' का है, जिसमें हम तत्कालीन (मौर्यकाल) भारत की राजनैतिक दशाओं का विवरण देखते हैं। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ विलुप्त हो गया है। फिर भी परवर्ती लेखकों ने इसके उद्धरण दिये हैं। उन्हीं को डा० स्नानवेक ने एक स्थान पर संग्रह करके 1846 में प्रकाशित किया। मैगस्थनीज की 'इण्डिका' के बाद ईसा की प्रथम शताब्दी का प्रसिद्ध लेखक 'स्ट्रैबो' था। स्ट्रैबो द्वारा रचित 'भूगोल' में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक आर्थिक एवं राजनैतिक पक्षों का सुन्दर मिश्रण है। इसी प्रकार प्लिनी दि एल्डर का 'प्राकृतिक इतिहास', एरियन का 'इण्डिका' और 'सिकन्दर का आक्रमण' नामक दो ग्रन्थों का सृजन हुआ। 'हिरोडोटस' का 'इतिहास' भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। वैसे ही 'पैट्रोबलीन' का 'पूर्वी देशों का भूगोल' नामक ग्रन्थ जिसमें भारत का वर्णन भी आता है महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। चीनी यात्री फाहियान 400-410 ई० तक भारत में रहा जिसके विवरण से गुप्त प्रशासन आदि पर प्रकाश पड़ता है। सुमाचीन (चीनी लेखक) अपने देश का पहला इतिहासकार माना जाता है। इसके द्वारा रचित इतिहास ग्रन्थ में भी भारत के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

ऐतिहासिक ग्रन्थ :

हिन्दूकाल के इतिहास पर लिखे गए अन्य ग्रन्थों में भी वी० पी० काने 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', राधाकुमुद मुकर्जी का 'केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया', रमेशचन्द्र मजूमदार का 'कार्पोरेट लाइफ इन एनशेन्ट इण्डिया' सी० वी० वैद्य 'एपिक इण्डिया' तथा चन्द्रवरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' आदि ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ये प्राचीन भारत की राजनैतिक सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक अवस्थाओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार डा. ईश्वरी प्रसाद का 'प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन खोजपूर्ण ग्रन्थ' 'हिन्दू पालिटी' डा० के० पी० जायसवाल कृत, 'सावरेन्टी इन एन्शेन्ट इण्डिया' डा० एच० एन० सिन्हा कृत प्रो० अल्तेकर का 'प्राचीन भारत में शासन पद्धति तथा 'दी स्टेट इन एनशेन्ट इण्डिया'' डा० वेनी प्रसाद कृत आदि को एस श्रेणी में रखते हैं। इन ग्रन्थों में प्राचीन भारत के हर पहलू का विस्तृत एवं मौलिक विवरण प्राप्त होता है। अतः इन ग्रन्थों को भी हम अपनी स्रोत सामग्री का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं।

पुरातात्विक साक्ष्य :

प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रत्येक सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में पुरातत्व सामग्री का महत्व इस बात से लगाया जा सकता है कि आज यह इतिहास नहीं रहा, वरन स्वतन्त्र विषय बन चुका है। यह इतिहास निर्माण में न केवल प्रतिपादक के रूप में हैं, बल्कि समर्थक के रूप में भी इतिहास के पक्षों को प्रभावित करता है। साक्ष्यों के अन्तर्गत अभिलेख, स्मारक एवं सिक्के आते हैं। प्राचीन अभिलेख एवं सिक्कों का महत्व अधिक है क्योंकि इनके बिना विश्वसनीय इतिहास की रचना करना असम्भव कार्य है। अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का केवल पुरातात्विक साक्ष्यों द्वारा ही पता चलता है। उदाहरणस्वरूप हाथी गुम्फा अभिलेख न मिलता तो हमें भारतवर्ष के एक नरेश खारवेल का कुछ भी पता न चल पाता।

अभिलेख :

सबसे प्राचीन अभिलेख अशोक के माने जाते हैं। वस्ती में प्राप्त पिप्राक्लश लेख और अजमेर में प्राप्त बड़ली अभिलेख को कुछ विद्वान अशोक के काल से पूर्व का बताते हैं। अशोक के अभिलेखों की लिपि दो प्रकार की है। ब्राह्मी लिपि—यह बायें से दायें की ओर लिखी जाती है। खरोष्ठी—दूसरी लिपि है जो कि दायें से बायें को लिखी जाती है 'ब्राह्मी अक्षरों को पढ़ने का श्रेय जेम्स प्रिंसप को है। उनका अनुवाद तथा लिपिकरण कप्तान लांग के द्वारा कपड़े पर लिये छापे पर आधारित है।[10]

प्राचीन अभिलेख अनेक स्थानों पर और रूपों में निम्नतः मिलते है :

स्तम्भ अभिलेख :

हड़प्पा मोहन जोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त स्तम्भों से पता चलता है कि उस समय में भी स्तम्भ स्थापित किये जाते थे। परन्तु उन पर कोई लेख नहीं होता था। कालान्तर में इन स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण किये जाने लगे। 'अशोक के स्तम्भ-लेख अपनी बहुसंख्या और विवरणात्मकता के कारण पाषाण पर उत्कीर्ण उसकी आत्मकथा है।'[111] अशोक के अनेक स्तम्भ लेख हैं। अशोक के अतिरिक्त समुद्रगुप्त का स्तम्भ अभिलेख, स्कन्दगुप्त का मितरी स्तम्भ अभिलेख तथा इन्डोयूनानी हेलिओडोरस का विदिशा स्तम्भ अभिलेख भी महत्वपूर्ण है।

---

110. राजबली पाण्डेय, अशोक के अभिलेख, अभिलेखों का अनुसन्धान और अध्ययन, पृ० 15।
111. डा. वि. च. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 24।

शिला अभिलेख :

पहाड़ों को काटकर उनके बीच के स्थल को समतल करके उन पर अभिलेख खुदवा दिए जाते थे। अशोक के शिला-अभिलेख प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। अशोक के अतिरिक्त खारवेल का प्रसिद्ध हाथी गुम्फा अभिलेख, रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख एवं पुष्यमित्र शुंग का अयोध्या अभिलेख।

मूर्ति अभिलेख :

प्राचीन भारत में जिस समय धार्मिक प्रवृत्ति का अधिक विकास हुआ उस समय मूर्तियों का निर्माण अत्यधिक हुआ। मूर्तियों के अधोभाग अथवा शीर्षभाग में कहीं-कहीं कुछ अभिलेख मिल जाते हैं जिन्हें मूर्ति अभिलेख के नाम से पुकारा जाता है।

गुहा अभिलेख :

प्राचीन समय में अनेक राजाओं ने साधु-सन्यासियों एवं शिशुओं के लिए अनेक गुहाओं का निर्माण कराया। इन्हीं राजाओं के नाम वंश तथा निर्माण सम्बन्धी बातों का उल्लेख भी किया गया। गुहा अभिलेखों में अशोक के बराबर गुहालेख सात वाहनों के नासिक गुहा अभिलेख एवं गुप्तों के विभिन्न गुहा-अभिलेख प्रसिद्ध है जिनमें तत्कालीन अनेक बातों पर प्रकाश पड़ता है।

पात्र-अभिलेख :

हड़प्पा मोहन जोदड़ो की खुदाई में बहुसंख्यक पात्र निकले हैं, जिनमें विभिन्न चित्र एवं चिन्ह अंकित है। कुछ पर तत्कालीन भाषा में लेख लिखे हैं। पिप्राकलश अभिलेख भी इसी श्रेणी में आता है।

प्राकार-अभिलेख :

प्राचीन कालीन मन्दिरों और स्तूपों का प्राकार (चारदिवारी) पर भी अभिलेख पाये गये हैं। जैसे, भरहुत-स्तूप की चारदीवारी पर 'सुगने रजे' लिखा मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि यह शुंग राजाओं के काल में निर्मित हुआ होगा।

ताम्रपत्र अभिलेख :

राजा जब किसी व्यक्ति या समुदाय को दान अथवा पारितोषिक के रूप में जमीन जायदाद आदि देते थे, उस समय ताम्रपत्र पर अधिकार के प्रमाण-पत्र दिये जाते थे जिनमें राजा से सम्बन्धित अनेक बातों का उल्लेख मिलता था।

मुद्रा अभिलेख :

सिन्धु प्रदेश की लिपि न पढ़ी जाने के कारण तत्कालीन मुद्रा अभिलेख नहीं पढ़ी जा सकी है जिस पर राजा अथवा उसके द्वारा नियुक्त अधिकारी को नाम अथवा हस्ताक्षर मिलता है। बाद के समय में भी अनेक मुद्राओं पर अभिलेख प्राप्त होते हैं।

इनके अतिरिक्त विदेशों में भी अभिलेख प्राप्त हुए हैं। जैसे ऐशिया माइनर की खुदाई में बोगजकोई नामक स्थान पर 1400 ई० पू० के सन्धि पत्र, जिनके अभिलेखों में वरण, मित्र इन्द्र आदि वैदिक देवताओं के नाम उल्लिखित हैं।

स्मारक :

पुरातत्व सम्बन्धी शेष वर्गों अर्थात् अभिलेख मुद्रा तथा ललित कला सम्बन्धी वस्तुओं के अतिरिक्त पृथ्वी के ऊपर कला की वस्तु अथवा प्राचीनता की प्रतीक वस्तुओं को स्मारक की श्रेणी में रखा जाता है। प्राचीन स्मारकों से राजनीति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, परन्तु उनमें राजाओं के नाम, उनके वंश पुरातत्व की विधि द्वारा जानने पर काल निर्धारण करने में सहायक सिद्ध होते हैं। विभिन्न प्रकार के भवन, राजप्रसाद, सार्वजनिक हाल, जनसाधारण के घर, विहार, मठ, चैत्य स्तूप समाधि आदि असंख्य वस्तुयें अपने मूल रूप में या भग्नावशेष के रूप में हमें तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से परिचित कराते हैं। कभी-कभी इन पर उत्कीर्ण तिथियां या संक्षिप्त निर्देशन राजनीतिक परिस्थितियों का भी बोध करा जाता है।

सिक्के :

प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने में सिक्कों का महत्वपूर्ण स्थान है। सिक्के पूर्णतया राजकीय होते हैं। इनमें किसी मत-विशेष का पक्ष लेकर पक्षपात-युक्त तथ्य का सम्पादन नहीं होता। केवल यही नहीं 206 ई० पू० से लेकर 300 ई० तक के इतिहास को जानने का एक मात्र साधन सिक्के ही हैं। पहले भारतीय सिक्कों पर केवल देवताओं के चिन्ह अंकित होते थे। उन पर तिथि अथवा नाम नहीं होता था। जब से उत्तर-पश्चिमी भारत पर वैक्ट्रिया के यूनानी राजाओं का शासन प्रारम्भ हुआ, सिक्कों पर राजाओं के नाम और तिथियां उत्कीर्ण की जाने लगी। शक, पल्लव और कुषाण राजाओं ने यूनानी राजाओं के अनुरूप ही अपने सिक्के चलायें। भारतीय शक राजाओं और मालव, योधेय आदि गणराज्यों के इतिहास पर अनेक सिक्के पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। सिक्कों के पाये गये स्थानों से यह अनुमान लगता है कि किस राजा का राज्य विस्तार कहां तक था। सिक्कों पर अंकित चित्र विशेष घटनाओं पर भी प्रकाश डालते हैं, जैसे कि समुद्र गुप्त के कुछ

सिक्कों पर यूप बने हैं और 'अश्वमेध पराक्रम' शब्द उत्कीर्ण है, जिससे स्पष्ट पता चलता है कि समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया था। एक ही राजा के अधिक मात्रा में मिले सिक्के उसके दीर्घकालीन शासन को इंगित करते हैं। सिक्कों पर राजा का नाम, तिथि, राजचिन्ह अथवा धर्मचिन्ह रहते हैं। जिनसे राजाओं का वंश-वृक्ष, उनके महत्वपूर्ण कार्य, उनका शासन काल तथा राजनीतिक एवं धार्मिक विचार निश्चित करने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

अध्याय 2

सम्प्रभुता : अतीत और वर्तमान सन्दर्भ

राज्य के चार आवश्यक मूल तत्व स्वीकार किये जाते हैं :

1. जनसंख्या,
2. भू-भाग,
3. सम्प्रभुता,
4. सरकार।

इन चारों तत्वों में प्रथम दो जनसंख्या और भू-भाग राज्य के भौतिक आधार माने जाते हैं । सम्प्रभुता तथा सरकार राज्य के आध्यातिमक आधार हैं । सम्प्रभुता को अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना गया है । इसे राज्य का प्राण कहा गया है । सम्प्रभुता के अभाव में राज्य का अस्तित्व कायम ही नहीं रह सकता ।

आंग्ल भाषा के शब्द सावरेनिटी को हिन्दी में कई शब्दों द्वारा परिचित कराया जाता है, जैसे सप्रम्भुता, प्रभुसत्ता, सार्वभौमिकता, प्रभुत्व, राज्य प्रभुत्व, राज्य सत्ता, सर्वोच्च सत्ता आदि । सम्प्रभुता शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रांसीसी लेखक बोदा ने सन् 1576 में अपनी पुस्तक 'सिक्स बुक्स कनसैंनिग दि स्टेट' में किया । 'सावरनिटी' लेटिन शब्द सुपरनैस से लिया गया है । जिसका अर्थ उस भाषा में (सुपर-सुप्रीम एनस-पावर : सुप्रीम पावर) सर्वोच्च शाक्ति से होता है। इसी प्रकार रोम के कानूनी विशारदों ने सम्प्रभुता के लिये (सुम्मा पोटेस्टास और प्लेनिटुडो पोस्टेटीस) शब्द का प्रयोग किया था। इन शब्दों को राज्य की सर्वोच्च सत्ता के अर्थ में उपयोग में लाया गया है ।

सम्प्रभुता का राज्य के लिये वही महत्व आँका गया है जो जीवन के लिए प्राणों का है । सम्प्रभुत्ता में सत्तात्मकता तथा स्वामित्व का आभास पाया जाता हैं । सम्प्रभुत्ता की राज्य के लिये आवश्यकता निम्न बातों से स्पष्ट होती है ।

1. सम्प्रभुता की अनुपस्थिति में राज्य के अस्तित्व की कल्पना साकार नहीं हो सकती ।

2. सम्प्रभुता ही राज्य को अन्य समुदायों से अलग करती है।

3. सम्प्रभुता द्वारा ही राज्य अपने व्यक्तित्व के महत्व को अनुभव कर सकता है।

4. सम्प्रभुता ही वह शक्ति है जो कानून से ऊपर होती है।

5. सम्प्रभुत्ता द्वारा एक नागरिक का अन्य नागरिकों से तथा नागरिकों का राजा के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है।

6. सम्प्रभुत्ता के आधार पर एक राज्य राज्यों के ही परिवार में अपने व्यक्तित्व को अनुपमता तथा व्यापकता अनुभव करता है।

7. सम्प्रभुत्ता राज्य की स्वतन्त्रता का प्रतीक है।

8. सम्प्रभुत्ता के द्वारा ही नागरिकों में आज्ञा पालन तथा अनुशासन की भावना जागृत होती है।

प्राचीन अवधारणा :

प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय मनीषी सम्प्रभुता से परिचित थे। प्राचीन भारत में सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणा का अध्ययन करने के लिए हमारे सम्मुख प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ ऋग्वेद है। यह सत्य है कि ऋग्वैदिक कालीन सभ्यता का विकास हो चुका था। परन्तु इस सभ्यता की लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। अतः ऐसी स्थिति में प्राचीन भारतीय राजनैतिक अवधारणाओं के अध्ययन के लिए हमारे सम्मुख प्रथम प्रमाण ऋग्वेद ही रहता है। ऋग्वेद के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में प्रत्येक जाति का अधिपत्य राजा के हाथ में होता था। इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि राजसत्ता का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम जिस काल में हुआ, वह युद्धकाल था।[1] युद्ध के अतिरिक्त शान्तिकाल में राजा आन्तिरिक व्यवस्था तथा प्रजा के कार्यों को भी सम्पादित करता था।

प्रारम्भ से ही राजा की आवश्यकता समाज में अपरिहार्य मानी जाती थी। राज्य की आवश्यकता क्यों हुई इस सन्दर्भ में अनेक प्रकार की कथायें प्रचलित हैं जो मत्स्य-न्याय के सिद्धान्त की पुष्टि करती है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार युद्ध में निरन्तर पराजित होने के पश्चात देवों ने यह निर्णय ले लिया कि उनकी पराजय का कारण राजा का न होना है। इससे राजा की आवश्यकता सिद्ध होती है। उपयुक्त वर्णन से यह पुष्ट होता है कि राजा किसी भी समाज

---

1. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ० 467।

के लिए अत्यन्त आवश्यक था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के एक दूसरे सूक्त में राजा के निर्वाचन का वर्णन किया गया है। इस सूक्त से ध्वनित होता है कि समिति राजा का निर्वाचन करती थी। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जो राजा के वंशानुगत होने पर बल देते हैं। यह विवाद का विषय हो सकता है कि वैदिक काल में राजा का पद वंशानुगत था, अथवा राजा का चुनाव निर्वाचन द्वारा होता था। परन्तु इतना तो निश्चित है कि राजा राज्य का सर्वोच्च स्वामी होता था। वह अपने रत्नियों (मंत्रियों) की सहायता से शासन का संचालन करता था। अनेक स्थलों पर किये गये विवरणों से यह सिद्ध होता है कि राजा का यह पद निरंकुश नहीं होता था। सम्भवतः जनता राजा को अपनी सुविधा के लिए नियुक्त करती थी। अगर राजा अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने में असफल रहता था, तो उसे पदच्युत भी किया जा सकता था।[2]

प्रजा वास्तविक संप्रभु :

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, वैदिक काल में वास्तविक सम्प्रभु प्रजा ही थी परन्तु वह अपनी सुविधा के लिए राजा को अपने अधिकार प्रदान कर देती थी। अतः यह माना जा सकता है कि प्रारम्भिक काल में सम्प्रभुता जनता में निहित थी। वेदकालीन सभा और समिति नामक दो लोकप्रिय संस्थाओं के विस्तृत अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में सम्प्रभु के कार्य सभा और समिति ही करती थी। ऋग्वेद के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि राजा के लिए समिति में जाना आवश्यक माना जाता था। 'छांदोग्य उपनिषद' में श्वेतकेतु अरुणेय गौतम के समिति में जाने का वर्णन किया गया है। समिति राजा का निर्वाचन तथा निष्कासन कर सकती थी। काशीप्रसाद जायसवाल ने सभा के कार्यों का निरुपण करते हुए लिखा है कि सभा एक राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य करती थी।[3] परन्तु जैसे-जैसे राज्य के स्वरूप में विस्तार होता गया इन लोकप्रिय संस्थाओं का अस्तित्व समाप्त हो गया। राज्य के बढ़ते हुए आकार प्रकार ने जनता के राज्य की गतिविधियों में हस्तक्षेप को काफी सीमित कर दिया।

वैदिक काल के पश्चात सम्प्रभुता संबन्धी मान्यताओं को जानने में सर्वाधिक सामग्री महाभारत से प्राप्त होती है। महाभारत के शान्तिपर्व में राजा की स्थिति का पता चलता है। युद्धिष्ठर भीष्म से प्रश्न करते हैं राजा का पद किस

---

2. शिवदत्त ज्ञानी, वेदकालीन समाज, पृ० 207-208।
3. के. पी. जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ० 16-20।

प्रकार अस्तित्व में आया, राजा अधिक बुद्धिमान एवं साहस संपन्न व्यक्तियों की भांति शासन करता है जबकि वह अन्य व्यक्तियों की भांति समान शारीरिक व मानसिक विशेषतायें रखता है, वह भी जन्म एवं मरण के परिवर्तनों से प्रभावित हैं तथा सभी दृष्टिकोणों से वह दूसरे के समान है। भीष्म ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया कि, पहले कोई दण्ड देने वाला नहीं था। उस समय लोग न्याय और औचित्य की भावना से स्वयं को प्रकाशित करते थे। किन्तु यह धारणा एवं स्थिति अधिक समय तक व्यवहार में नहीं रही और धर्म का शनैः शनैः पतन प्रारंभ हो गया। मनुष्यों में मोह, लोभ, संग्रह की वृति स्पष्ट परिलक्षित होने लगी और मत्स्य-न्याय का बोलबाला हो गया। ऐसी स्थिति में साधारण लोगों का जीवनयापन दूभर हो गया। इस स्थिति से बचने के लिए संभवतः राज्य की उत्पति हुई। राजा को सर्वशक्तिशाली, दण्डधारी एवं न्याययुक्त गुणों से विभूषित किया गया।

इसके पश्चात भारतीय युग में महाजनपद काल प्रारंभ होता है। यह सोलह महाजनपद धीरे-धीरे समाप्त हो गये और मगध के उत्कर्ष के फलस्वरूप प्रथम साम्राज्य का विकास हुआ, जिसे मौर्य-साम्राज्य कहा जाता है। मौर्यकालीन ग्रन्थ कौटिल्य-अर्थशास्त्र से राज्य के सप्त अंगों का ज्ञान होता है जिनमें प्रथम 'स्वामी' है। पी० वी० काने ने 'स्वामी' शब्द का अंग्रेजी रूपान्तर करते हुए उसकी तुलना संप्रभु से की है।[4]

कौटिल्य का मत :

कौटिल्य ने स्वामी को संप्रभु स्वीकार किया है। संप्रभु एक निश्चित क्षेत्र में होता है। कौटिल्य ने राज्ज को प्राणरहित संरचना न मानकर एक जीवित अवयव माना है। कौटिल्य के मतानुसार संप्रभुता आवश्यक रूप से राजा में निर्धारित रहती है। संप्रभुता एक ऐसा अधिकार नही है जिसको अधिकृत किया जाता है अपितु यह एक कर्तव्य है जो ब्राह्मा द्वारा प्रदान किया जाता है। यहां पर कौटिल्य ने राज्य की जिस परिकल्पना का वर्णन किया है वह किसी राष्ट्रीय सीमा से निर्धारित नहीं होती है तथा न ही उसका किसी जाति, धर्म से संबन्ध है। यह सत्य है कि कौटिल्य ने राजस्व के दैवीय सिद्धान्त को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया है। उनके मत में राजा एक मानवीय संस्था है लेकिन कौटिल्य ने स्पष्ट रूप से राजा और राज्य के मध्य अन्तर स्थापित नहीं किया है या वह राजा व राज्य के कार्यों, कर्तव्यों को एक ही मानता है।

---

4. पी. वी. काने, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम-3, पृ० 17।

कौटिल्य ने संप्रभुता संबन्धी सिद्धान्त को भली प्रकार से समझने के लिए विधि के स्वरूप को जानना आवश्यक है । कौटिल्य ने तर्कसंमत विधि को ही स्वीकार किया है। धर्म-निरपेक्ष विधि को मान्यता प्रदान कर कौटिल्य ने राजा को प्रजापीदक होने से बचाया है, तथा संप्रभुता के सिद्धान्त को एक ऐसा आधार दिया है जो तत्कालीन दृष्टिकोण से एक असाधारण कार्य है । कौटिल्य ने स्वामी के लिये आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का ज्ञान आवश्यक माना है । इन चारों में आन्वीक्षकी को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं । उनके मत में आन्वीक्षकी विद्या लोक का उपकार करती है तथा यह सुख दुःख से वृद्धि और स्थिर रखती है । यह विद्या सर्वदा ही सब विद्याओं का प्रदीप है, सभी कार्यों का सघन और सब धर्मों का आश्रय मानी जाती है ।[5]

इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने उसी राज्य को चिरकाल तक पृथ्वी का निर्बाध रूप से शासन कहने में सक्षम माना है, जो प्राणीमात्र का हित-कामना में लगा रहता है तथा प्रजा के शासन तथा मिश्रण में तत्पर रहता है ।[6]

उपयुर्क्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कौटिल्य की सम्प्रभुता की धारणा के अन्तर्गत निम्न बातें स्पष्ट होती हैं :

1. सम्प्रभुता सर्वाभौमिक स्वीकारी गई है अर्थात वह किसी देश काल की सीमा से-निर्धारित नहीं होती ।

2. सम्प्रभुता का वास राजा में होता है ।

3. सम्प्रभुता एक लौकिक अवधारणा है ।

4. सम्प्रभुता विधि से अनुबन्धित है ।

मनु और शुक्र के विचार :

कौटिल्य की भाँति मनु ने भी राजा को सम्प्रभु स्वीकार किया है। राजा की उत्पति के सम्बन्ध मनु के राज्य विषयक सिद्धान्त में धर्म को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । समाज में प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म का पालन करे, तथा जीवन के चार आश्रमों के निमित्त निर्धारित नियमों के अनुसार जीवन यापन करे। मनु ऐसा मानते हैं कि इससे धर्म की रक्षा होगी। यदि मनुष्य ऐसा नहीं करते हैं तो समाज में अधर्म और अव्यवस्था छा जाती मनुष्य की आसुरी प्रवृतियों को

---

5. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण 1, अध्याय 1 ।
6. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण 1, अध्याय 1 ।

बढ़ावा मिलता है और मतस्य-न्याय का बोलबाला हो जाता है। अतः इस कुव्यवस्था को नियंत्रित करने के लिये मानव की रक्षा हेतु ईश्वर ने दण्ड, दण्डनीति तथा उससे प्रयुक्त करने वाले राजा की सृष्टि की है।[7] मनु दण्ड की महिमा का बिशद विवेचन करते हुए बताते हैं कि दण्ड की उत्पति, उसके स्वरूप, उसके प्रयोग की विधि आदि का विवेचन करते हुए प्रयोक्ता राजा को दण्ड का प्रतीक एवं सृष्टि कर्ता परमात्मा द्वारा सृजित पद मानते हैं। इस प्रकार मनु राजस्व के दैवीय सिद्धान्त को महत्व देते हैं। मनु ने सम्प्रभु (राजा) के ऊपर महान दायित्व भी आरोपित किये हैं। राजा का मुख्य दायित्व समाज में धर्म संस्थापन, प्रजा-रजन तथा दण्ड का समुचित रूप से प्रयोग करना है।

मनु ने सम्प्रभुता को राजा द्वारा ही अन्य भागों में भी बांटा है परन्तु सर्वोच्च स्थिति राजा की ही रखी है। मनु के विचार से राजा को विभिन्न मन्त्रियों से व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों रूपों में परामर्श लेना चाहिये और अपनी राय निश्चित करने से पूर्व सर्वश्रेष्ठ मन्त्री से भी परामर्श करना चाहिये।[8]

मनु ने राजा के ऊपर कानून की, मन्त्रियों के परामर्श से शासन कार्य संचालित करने की तथा लोक परम्पराओं को मान्यता देने के दायित्व की मर्यादायें लगाई हैं। साथ ही राजा को स्थापित नियमों तथा सिद्धान्तों के अनुसार न्याय-व्यवस्था तथा वित्त व्यवस्था संचालन करने की बात पर बल दिया है। अतएव मनु का राज धर्म निरंकुश है अथवा स्वेछाचारी राजतन्त्र के समर्थन से कोसों दूर है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मनु ने राजा में एक आदर्श सम्प्रभु की कल्पना की है तथा उसे धर्म से जुड़ा हुआ बताया है।

इसी प्रकार प्राचीन भारतीय विद्वानों में महर्षि शुक्र का भी उल्लेख करना अनिवार्य सा है। शुक्र ने अपनी पुस्तक 'शुक्रनीति' में राजा के कर्तव्य एवं अधिकारों के विषय में लिखा है। शुक्र भी अन्य प्राचीन विद्वानों की भांति राजा में ही सम्प्रभुता का वास बताते हैं। दण्ड और दण्डनीति की व्याख्या करते हुए राजा को उसका एकमात्र रक्षक बताते हैं।

राज्ञं स दंड नीत्या हि सर्वे सिध्यत्युपक्रमाः।
दंड एव हि धर्माणा शरणं परम स्मृतम्॥[9]

---

7. मनुस्मृति, अध्याय 7, श्लोक 3।
8. मनुस्मृति, अध्याय 7, श्लोक 46 से 62।
9. शुक्रनीति, अध्याय 4, श्लोक 48।

यदि राजा (सम्प्रभु) अधर्मपरायण हो जाये तो प्रजा को शुक्र यह आदेश देते हैं कि वह उनसे अधिक धर्मशील और अधिक बलवान रिपु के आश्रय की धमकी दे कर उसको उचित मार्ग पर लाने को उकसाती रहे।[10] शुक्र यह कहकर शायद सम्प्रभुता को स्थानान्तरण अथवा योग्य सम्प्रभु की कल्पना करते प्रतीत होते हैं।

आधुनिक अवधारणायें :

सम्प्रभुता सर्वोच्च शक्ति है और आधुनिक राज्य सम्प्रभु राज्य कहे जाते हैं। आधुनिक राज्यों के सम्प्रभु होने की धारणा का विचार ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। योरोप में सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणों का प्रारम्भिक स्वरूप रोम साम्राज्य के समय देखा जा सकता है। संस्थाओं की भांति सम्प्रभुता की धारणा की उत्पति रोमनविधि में योरोपीय राजनीतिज्ञ व इतिहास वेत्ताओं ने देखी है। इतिहास की भौतिकवादी तथा वैज्ञानिक अवधारणा के अनुसार **अध्ययन** करने के उपरान्त राजनीतिक चिन्तकों ने यह मत व्यक्त किया कि सम्प्रभुता का विकास एक क्रम से नहीं हुआ। सामन्तवादी युग में सम्प्रभुता की धारणा को विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। इस युग में चर्च राजनैतिक साम्राज्य से अधिक शक्तिशाली हो गई थी, लेकिन अन्ततः राजा और पोप के मध्य संघर्ष में राजा ही सर्वोच्च माना गया। धीरे-धीरे राज्य और राजा के मध्य अन्तर समाप्त हो गया और लुई चतुर्दश यह कहने में समर्थ हो सका 'मैं ही राज्य हूं' लेकिन अंग्रेजी गृह्मयुद्ध और फ्राँसीसी क्रांन्ति के फलस्वरूप अन्तिम विजय जनता की हुई। अब यह माना जाने लगा कि राजा सम्प्रभु नहीं है, सम्प्रभु की वास्तविक स्वामिनी जनता है।

यद्यपि सम्प्रभुता शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग बौदा ने किया एवं प्रभुता का आधुनिक सिद्धान्त भी 16वीं सदी की उपज है, परन्तु सर्वोच्च सत्ता का विचार अरस्तु में भी दृष्टिगोचर होता है। अपनी पुस्तक (पौलिटिक्स) में वह लिखता है कि सरकार जो राज्य के अन्दर सर्वोच्च है या तो एक या कुछ वस्तुओं के हाथ में होती है।[11]

अतीत काल में किसी भी नाम से इसका प्रयोग हुआ हो किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि प्राचीन लेखकों को प्रभुता के विषय में धुंधला एवं भ्रमपूर्ण ज्ञान

---

10. शुक्रनीति, अध्याय 4, श्लोक 109।
11. अरस्तु, पालिटिक्स, 111, अनुभाग 7।

था, यद्यपि हर एक का तात्पर्य इससे राज्य की सर्वोच्च सत्ता से था। राज्य की सर्वोच्च सत्ता को लेकर लम्बा विवाद रहा। ग्यारहवीं शताब्दी में तो यह संघर्ष चरम उत्कर्ष पर था। हेनरी अष्टम एवं पोप ग्रेगरी सप्तम में खूब विवाद रहा 'आधुनिक राज्य' के सिद्धान्त की नींव चौदहवीं सदी में पड़ी। राज्य के सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त की स्थापना प्राचीन राजनीतिक विचारक मैकियावली ने की। उनका तर्क था कि राज्य की शक्ति सर्वोच्च है, और चर्च सहित सभी अन्य संघ उसके आधीन हैं। '16वीं सदी के धार्मिक युद्धों ने चर्च की एकता को नष्ट कर दिया और उनके ध्वंसाशेषों पर आधुनिक राष्ट्र राज्य का उदय हुआ। राष्ट्र राज्य के अभिर्भाव ने प्रभुता शब्द को एक नवीन अर्थ प्रदान किया और वह राज्य के आवश्यक लक्षणों में एक स्वीकार किया जाने लगा। मैकियावली के उत्तराधिकारी सर जान बौदा ने स्पष्ट रूप से सम्प्रभुता शब्द का प्रयोग कर उसके सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। किन्तुउस समय तक भी राज्य की शक्ति को सर्वोच्च व निरंकुश रूप में नहीं माना गया था। राज्य की निरंकुश शक्ति की स्थापना हाब्स द्वारा अपनी पुस्तक लेवियाथन (1615) में की गई है। इसमें हाब्स ने प्रतिपादित किया कि 'राजा सर्वोपरि है और उसकी इच्छा ही कानून है।' हाब्स के बाद के विद्वानों लाक, रूसो और माण्टेस्क्यू आदि ने भी प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को विकसित किया, परन्तु प्रसिद्ध न्यायशास्त्री के सिद्धान्त जान आस्टिन ने उसे कानूनी आवरण पहनाया। उल्लेखनीय है कि हर एक का तात्पर्य इससे राज्य की सर्वोच्च शक्ति से था। इस प्रकार पारिभाषिक शब्द के रूप में सावरनिटी अर्थात् सम्प्रभुता का अर्थ राज्य की सर्वोच्च शक्ति से स्वीकार किया जाता है।

राज्य के चार तत्वों (जनता, प्रदेश, सरकार एवं प्रभुता) में प्रभुता ही सर्वोच्च है। यह राज्य की एक ऐसी विशेषता का सूचक है जो इसे अन्य संघों अथवा समुदायों से अलग करती है। इसके द्वारा राज्य आन्तरिक दृष्टि से सर्वोच्च एवं वाह्य दृष्टि से स्वतंत्र हो जाता है। इस प्रकार सरकार के आदेशों को सार्थकता व शक्ति प्राप्त हो जाती है और लोग उसका अनुसरण करते हैं। चूंकि जनसमूह एक ही सर्वोच्च शक्ति की आधीनता में रहकर एकता का अनुभव करता है। इसलिये इसके द्वारा राज्य के निवासियों में एकता का प्रादुर्भाव होता है।

प्रभुता के दो पहलू हैं—

1. आन्तरिक प्रभुता,
2. वाह्य प्रभुता।

आन्तरिक प्रभुता :

आन्तरिक कार्य क्षेत्र की दृष्टि से प्रभुता का यह तात्पर्य है कि राज्य

व्यक्तियों तथा व्यक्ति समुदायों से उच्चतर होता है। अर्थात् प्रभुता का सम्बन्ध उस उच्च अधिकार शक्ति से है जिसे राज्य के अन्तर्गत आने वाले सब व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों के समूहों पर इसका एकमात्र अधिकार है। वह चाहे जैसे उन्हें कानून व आदेशों के रूप में उन्हे आज्ञा दे सकता है और अपनी आज्ञा मनवा सकता है। इस प्रकार आन्तरिक दृष्टिकोण से एक निश्चित प्रदेश में राज्य की एक ऐसी सर्वोच्च शक्ति होती है जो सब व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों व समूहों को आज्ञा दे सकती है, और अपनी आज्ञा का पालन उन सबसे करवा सकती है। व्यक्तियों के समूहों को अथवा व्यक्तियों अथवा समूहों को ऐसा कोई कानूनी अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता कि वे उसकी आज्ञाओं के विरुद्ध कार्य कर सके, अथवा उनके विरुद्ध कोई सुनवाई अन्यत्र कहीं भी न कर सके। राज्य की इच्छा स्वेच्छाचारी होती है, और इस पर कानूनी मर्यादा की शर्त लागू नहीं होती है, प्रभुता के उक्त आन्तरिक पहलू पर विद्वान लास्की ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'वह प्रदेश (राज्य) के सब मनुष्यों तथा समुदायों को आज्ञा प्रदान करता है और उसे उनमें से कोई आज्ञा नहीं देता। उसकी इच्छा पर कोई किसी प्रकार की कानूनी प्रतिबन्ध नहीं होता। अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र से ही उसे किसी कार्य के करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।'[12]

गार्नर ने अपने मत को इस प्रकार प्रतिपादित किया है 'प्रत्येक पूर्ण स्वतंत्र राज्य में कोई ऐसा व्यक्ति सभा अथवा समुदाय (अर्थात् निर्वाचक मण्डल) होता है, जिसे कानून के रूप में सामूहिक इच्छा का निर्माण करने व उसे क्रियान्वित करने की सर्वोच्च शक्ति अर्थात् आज्ञा देने व उसे पालन कराने की अन्तिम शक्ति प्राप्त होती है।[13]

प्रभुसत्ता का आन्तरिक रूप क्या है यह इस सम्बन्ध में गैटिंग मत प्रतिपादित करते हैं कि प्रभुता का सम्बन्ध वस्तुतः राज्य व उसके निवासियों के आन्तरिक सम्बन्धों से ही है। उन्होंने लिखा है कि यदि उचित रूप से कहा जाय तो प्रभुता का सम्बन्ध राज्य व उसके निवासियों के सम्बन्ध से है, वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का शब्द न होकर संवैधानिक कानून का शब्द है। वह कानूनी विचार है और उसका सम्बन्ध विधिपूरक कानून से है।[14]

---

12. ए ग्रामर आफ पालिटिक्स, पृ० 44,।
13. पालिटिकल साईस आफ गर्वनमेंट, पृ० 156।
14. गैटिल, पालिटिकल साईंस, पृ० 123,।

बाह्य प्रभुता :

बाहरी प्रभुता से तात्पर्य है कि राज्य अन्य राज्यों के किसी भी प्रकार के दबाव या हस्तक्षेप से स्वतंत्र है अथवा यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय विषयों द्वारा मर्यादित है तो राज्य स्तर का प्रभु-स्तर (सोवरिन स्टेस) किसी रूप में समाप्त नहीं होता अर्थात् राज्य किसी भी अन्य राज्य के अधीन नहीं है उसे इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता कि वह विदेशों में जैसे चाहे वैसे सम्बन्ध स्थापित करे, युद्ध के अथवा मंत्री के अथवा व उनके प्रति तटस्थता के। फलतः प्रत्येक राज्य अन्य राज्यों से स्वतंत्र है उसकी निजी इच्छा और वह किसी भी बाहरी शक्ति की अपेक्षाओं को अपनी इच्छानुसार पूर्ण करने में समर्थ है।

लास्की द्वारा राज्य की प्रभुता के बाह्य रूप की ओर संकेत किया गया है। राज्य उनके मत में 'आधुनिक राज्य प्रभुत्व सम्पन्न होता है, अतः वह अन्य राष्ट्रों के समक्ष स्वतंत्र होता है उनके मामलों में वह अपनी इच्छा को इस प्रकार व्यक्त कर सकता है, कि उस पर किसी बाह्य शक्ति का कोई प्रभाव पड़ने की आवश्यकता नहीं होती।[15]

सम्प्रभुता का बाह्य रूप विदेशी राज्यों के व्यवहार के विषय में आन्तरिक प्रभुता के अभिव्यक्ति मात्र है। ऐसा मत गैटिल ने दिया है। वे अपने मत को इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि 'जिसे हम बाह्य प्रभुता कहते हैं वह वस्तुतः अधिकारों की पूर्णता है, जिसके द्वारा विदेशी राज्यों से व्यवहार के विषय में आन्तरिक प्रभुता की अभिव्यक्ति होती है।[16]

गैटिल ने एक अर्थों में बाह्य प्रभुता को नहीं लिया वरन् उन्होंने एक और अर्थ लिया। उपरोक्त अर्थ का सम्बन्ध तो इस शक्ति से है जिसके द्वारा राज्य अन्य राज्यों से व्यवहार करता है, युद्ध घोषित करता है, सन्धि स्थापित करता है उसके दूसरे अर्थ का सम्बन्ध स्वतंत्रा के उस अधिकार से है जिसके कारण राजा अन्य राज्यों के नियन्त्रण व उसकी आधीनता में रहता है। पहले अर्थ को मानने का तात्पर्य यह होता है कि राज्य को अन्य राज्यों की भूमि में भी सर्वोच्च शक्ति प्राप्त होती है। इसलिये यह उचित नहीं है इसके विपरीत दूसरे अर्थ में भी यह अर्थ लगाना कि अन्य राज्यों से जैसा चाहे वैसा व्यवहार करने की शक्ति प्राप्त होना उचित नहीं जान पड़ता अपितु उसका अर्थ मात्र इतना ही है कि उसे अन्य राज्यों से अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतंत्र शक्ति प्राप्त होती है। इन दोनों अर्थों का वस्तुतः अभिप्राय एक ही सा है वह यह

15. लास्की, एक ग्रामर आफ पालिटिक्स, पृ० 44।
16. गैटिल, पालिटिकल साईंस, पृ० 123।

कि वाह्य दृष्टि से राज्य की प्रभुसत्ता का अर्थ यह है कि वह अन्य राज्यों से व्यवहार करने में स्वयं में स्वतंत्रता लिये है एवं वह अन्य राज्यों के किसी अतिरिक्त अनुरोध अथवा दबाव के बिना उनसे अपने वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन करता है।

सम्प्रभुता सम्बन्धी आधुनिक सिद्धान्त

जान बौदा :

बौदा ने अपनी पुस्तक में सम्प्रभुता को इस प्रकार परिभाषित किया। 'सम्प्रभुता एक राज्य में शासन करने की निरपेक्ष तथा स्थायी शक्ति है।' वह आगे लिखता है 'वह नागरिकों तथा प्रजाजनों के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है, जिसके ऊपर कानून की और कोई सीमायें नहीं हैं।' बौदा की इस परिभाषा को दृष्टिगत रखते हुए विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होता है कि सम्प्रभुता वह सर्वोच्च शक्ति है। जो राजा को अन्य समुदायों से अलग करती है। इस प्रकार की शक्ति निरपेक्ष तथा स्थायी होनी चाहिये एवं उसके ऊपर कानून की कोई सीमायें नहीं होनी चाहिये। राजा अपने क्षेत्र के अन्तर्गत रहने वाले समस्त नागरिकों तथा प्रजाजनों पर निरपेक्ष तथा अन्तिम शक्ति रखता है।

सम्प्रभुता को स्थायी बताकर यह स्वीकारता है कि वह राजा जो कि अपने जीवन पर्यन्त निरंकुश शक्तियों का उपभोग करता है वही प्रभुता सम्पन्न सत्ताधारी है। बौदा सम्भवत: ऐसा स्वीकारता है कि ईश्वर के बाद राजा का स्थान है। राजा सत्ता पर कानून की सीमायें बौदा स्वीकार नहीं करता शासक निरंकुश और सर्वोच्च होता है जिसके अनुसार उसे कानूनों के ऊपर होना चाहिये। वह केवल अपने बनाये हुए कानूनों के ऊपर होना चाहिये। वह केवल अपने बनाये हुए कानूनों के ऊपर है, अन्य प्रकार के कानूनों के ऊपर नहीं।

बौदा के सम्प्रभुता की कुछ सीमायें भी मानी हैं। उसके अनुसार समस्त शासक दैविक कानून प्राकृतिक कानून तथा इससे निःसृत राष्ट्रों के सामान्य कानूनों से बाधित हैं। वह यह भी स्वीकारता है कि सम्प्रभुता का प्रयोग विवेक के अनुसार होना चाहिये। अपने शासन से सम्बन्धित कार्यों के लिये ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है, किन्तु किसी मानवीय शक्ति के प्रति नहीं। बौदा यह भी स्पष्ट करते हैं कि शासक को राज्य के संवैधानिक कानूनों के विपरीत आचरण नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार सम्प्रभुता के ऊपर एक बन्धन यह भी वह लगाते हैं कि निजी सम्पत्ति की अपहरणीयता होनी चाहिये। बौदा ऐसा मानते थे कि शासक को किसी की सम्पत्ति उसके स्वामी की इच्छा के बिना नहीं छूनी चाहिये। इसका कारण वह यह मानते थे कि परिवार एक ईकाई है जिसका

आधार सम्पत्ति है। इसलिये सम्पत्ति को छीन लेना परिवार को और अन्त में स्वयं राज्य को नष्ट कर देना होगा।

थामस हाब्स :

हाब्स ने अपने लेवियाथन नामक ग्रन्थ में सम्प्रभुता की निम्न लिखित परिभाषा की—'सम्प्रभुता वह शक्ति है, जिसके कार्यों का एक महान जन-समूह ने अपने आपको स्वेच्छापूर्वक संविद्य द्वारा कर्ता बना लिया है, और उसकी शान्ति तथा सुरक्षा के लिये वह उन सबके साधन तथा शक्ति का अपनी बुद्धि के अनुसार प्रयोग कर सकता है।'

हाब्स प्रथम विचारक था जिसने सम्प्रभुता सम्पन्न राजा को पूर्णत: निरपेक्ष बताया। हाब्स ने बौदा के विचारों के विपरीत अपने सम्प्रभु की शक्ति को नैतिक एवं राजनीतिक बन्धनों से भी इस कारण मुक्त कर दिया कि वह उन मर्यादाओं पर विचार करने हेतु प्रस्तुत नहीं है। सेबाइन ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है—'हाब्स प्रभुसत्ता को उन समस्त अयोग्यताओं से पूर्णतया मुक्त करता है जिन्हें बौदा ने असंगतिपूर्ण ढंग से बनाये रखा है।

हाब्स के मत से संविदा द्वारा व्यक्ति अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों का त्याग करके उन्हें सम्प्रभु को बिना शर्त के अर्पित कर देते हैं। हाब्स समाज, राजा तथा शासन के मध्य कोई भेद स्थापित नहीं करते। उनके अनुसार सम्प्रभु-शासक तथा जनता के मध्य कोई संविदा नहीं हुई है जो कि सम्प्रभु की सत्ता को मर्यादित कर सके। देवी तथा प्राकृतिक कानून सच्चे अर्थ में कानून नहीं हैं जो कि सम्प्रभु की सत्ता को मर्यादित कर सके। यदि इन्हें किसी रूप में कानून माना भी जाता है तो उनको चुनने वाली कोई मानवीय सत्ता राजा के सम्प्रभु से ऊपर नहीं है। प्राकृतिक कानून विवेक का आदेश है। परन्तु राज्य की स्थापना हो जाने पर वह केवल सम्प्रभु के विवेक का आदेश हो सकता है न कि किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का। उनका उल्लघन करने पर सम्प्रभु किसी सांसारिक सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। अत: प्रभुसत्ता असीम तथा अमर्यादित है।

रूसो के विचार :

फ्रांस की राज्य क्रान्ति से पूर्व तक सम्प्रभुता के सम्बन्ध में यह विचार था कि सम्प्रभुता राजा का गुण हैं। इस समय यह विचार उचित भी था क्योंकि राजा ही केन्द्रीयकरण शक्तियों का नेतृत्व कर रहा था परन्तु फ्राँसीसी क्रान्ति के पश्चात इस विचार में मौलिक परिवर्तन आया। इस मौलिक विचार के प्रतिपादकों में

रूसो का नाम अग्रणी है। रूसो ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि जनता में प्रभुसत्ता निवास करती है। यह विदित है कि रूसो से पूर्व के विचारकों ने भी जनता को सम्प्रभु कहा है, परन्तु उन्होंने जनता की सम्प्रभुता के तात्पर्य और सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया है। रूसो ने किसी भी अन्य लेखक की अपेक्षा अधिक संगतिपूर्वक यह मत निश्चित करने का प्रयत्न किया। रूसो ने सम्प्रभुता की स्थापना किस प्रकार हुई, कहां निवास है, तथा इसका प्रयोग कब, किसके द्वारा और किस ढंग से किया जाता है आदि विषयों का युक्तियुक्त उत्तर दिया है। उसके विचारों में प्रभुसत्ता सम्पन्न जनता के विशेष अधिकारों का अनिश्चित उत्कर्षण कर दिया जाता है और उसके साथ उन स्थितियों की कोई उपयुक्त सीमायें नहीं रह जाती हैं जिसके अन्तर्गत कोई भी कार्य प्रभुसत्ता सम्पन्न जनता का कार्य माना जाता है।[17]

रूसों ने प्रभुसत्ता तथा शक्ति में विभेद किया है। इस विभेद के कारण उसका यह विश्वास है कि सम्प्रभुता का संक्रमण नहीं किया जा सकता है, न ही उसका प्रतिनिधित्व हो सकता है, न ही उसे विभाजित किया जा सकता है क्योंकि प्रभुसत्ता केवल सामान्य इच्छा का प्रयोग है। अतः उसका संक्रमण नहीं हो सकता। रूसो ने सामान्य इच्छा को स्थायी बतलाया है, परन्तु सामान्य इच्छा का स्थायी होना असम्भव है। प्रभुसत्ता के सम्बन्धित कार्यों में विधि निर्माण को प्रमुख माना गया है, परन्तु रूसो के अनुसार विधि बनाने का कार्य सामान्य इच्छा का है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या शासक, विधि से बढ़कर है। इसका उत्तर यह है कि शासक राज्य का सदस्य है तथा विधि निर्माण के कार्य में वह जनता के प्रति अन्यायी नहीं हो सकता है। रूसो के समस्त चिन्तन से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं :

(1) सम्प्रभुता जनता में निहित है न कि राजा में।
(2) सम्प्रभुता तथा शासक वर्ग में अन्तर है।

रूसो के यह दोनों विचार राजनैतिक चिंतन के क्षेत्र में तथा विशेष रूप से सम्प्रभुता के अध्ययन में विशेष महत्व रखते हैं। रूसो इस विचार को प्रतिपादित करने वाला प्रथम व्यक्ति था कि शासन तथा प्रभुसत्ता अलग-अलग है, क्योंकि शासन की क्रिया विधायकी है, और प्रभुसत्ता की क्रिया कार्यकारी है।[18] शासन की परिभाषा करते हुए रूसो कहता है, विधि के अनुसार कार्य शक्ति का

17. टामस हिलग्रीन — राजनीतिक दायित्व के सिद्धांत, पृ० 89।
18. ग्रीन, टी. एच. पूर्वोक्त, पृ० 80।

प्रयोग शासन है तथा शासक वह मनुष्यों का निकाय है, जिसे प्रशासन का भार सौंपा गया है। इसी स्थान पर रूसो ने तीन प्रकार के शासन तन्त्र बतलाये हैं। लोकतन्त्र, कुलीनतन्त्र और राजतन्त्र। जहाँ पर अधिकांश या समस्त नागरिक शासक होते हैं, वहां पर लोकतन्त्र होता है। जहाँ पर ये क्रियायें मनुष्य करते हैं, कुलीनतन्त्र होता है तथा जहां समस्त क्रियायें एक व्यक्ति को सौंप दी जाती है वहाँ राजतन्त्र होता है।

रूसो के अनुसार समझौते से जिस नवीन व्यक्तित्व की स्थापना होती है, वही निश्चेष्ठ अवस्था में राज्य कहलाता है। तथा सचेष्ठ रूप में सम्प्रभु। रूसो जनता से तात्पर्य समाज के समस्त सदस्यों से मानता है। उसमे शासक तथा शासित दोनों को सम्प्रभु माना है। रूसो के अनुसार इच्छायें दो प्रकार की होती हैं, एक इच्छा अस्थायी होती है, तथा दूसरी यथार्थ होती है रूसो यथार्थ इच्छा को ही मुख्य मानता है, क्योंकि रूसो के मत में मनुष्य की स्वतंत्रता केवल तभी सम्भव जब वह यथार्थ इच्छा के अनुसार आचरण करे। अपितु स्वतंत्रता का तात्पर्य नियन्त्रणों से मुक्ति नहीं है। रूसो ने इस यथार्थ इच्छा को सार्वजनिक इच्छा माना हैं। इस विचार के अनुसार व्यक्ति तथा समाज में कोई विरोधाभास नहीं है।[19]

रूसो के सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त के अध्ययन के फलस्वरूप निम्न प्रश्न उठते हैं:

क्या रूसो के इस संकल्पना में कोई सत्य है कि प्रभुसत्ता का आधार वास्तविक प्रभुसत्ता के प्रति उसके विनियोग में सामान्य इच्छा पर है ?

यदि है तो क्या रूसो के अनुसार हमें यह मानना होगा कि इच्छा का प्रयोग केवल प्रभुसत्ता सम्पन्न जनता के मतों द्वारा ही हो सकता है ?[20]

जान आस्टिन :

जान आस्टिन अद्वैतवादी या एकतावादी सम्प्रभुता के सिद्धान्त का समर्थक है। सम्प्रभुता के दर्शन की व्याख्या करने वाला प्रभावशाली विद्वान है। आस्टिन ने सम्प्रभुता की व्याख्या न्यायशास्त्र के दृष्टिकोण से की और बौदा के विपरीत सम्प्रभुता के सिद्धान्त को ऐतिहासिक और आचरिक पृष्ठभूमि से अलग और निश्चित विधियों के विज्ञान का निर्माण किया। आस्टिन ने सम्प्रभुता को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्ति किया, 'यदि किसी ऐसे निश्चित व्यक्ति श्रेष्ठ की जो

---

19. अ. द. पन्त एवं गुप्ता, राजनीतिक शास्त्र के आधार, पृ० 273-274।
20. टी. एच. ग्रीन, पूर्वोक्त ,पृ० 89।

अन्य किसी अपने ही समान व्यक्ति श्रेष्ठ की आज्ञा का पालन न करता हो, किसी समाज विशेष का अधिकांश भाग स्वभावतः आज्ञा पालन करता हो तो वह निश्चित व्यक्ति श्रेष्ठ उस समाज का प्रभुसत्ताधारी है और समाज उस व्यक्ति श्रेष्ठ सहित राजनीतिक और स्वतन्त्र समाज है।'

इस परिभाषा के अवलोकन से इसमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि प्रभुसत्ताधारी कोई निश्चित व्यक्ति होना चाहिए। सम्प्रभुता का निवास किसी ऐसे व्यक्ति में नहीं हो सकता जो काल्पनिक हो। व्यक्ति श्रेष्ठ कोई मनुष्य ही होना चाहिए। आस्टिन किसी ऐसे व्यक्ति श्रेष्ठ को मान्यता नहीं देता जो मानवोत्तर अथवा अलौकिक हो। इसके बाद यह कि एक राज्य का प्रभुसत्ताधारी व्यक्ति श्रेष्ठ अपने जैसे किसी अन्य प्रभुसत्ताधारी की आज्ञा का स्वभावतः पालन न करता हो एवं वह प्रभुसत्ता सम्पन्न व्यक्ति ऐसा होना चाहिए, जिसे समाज में उसको श्रेष्ठ माना जाता है उस समाज के अधिकांश लोग उसकी आज्ञाओं का स्वाभाविक रूप से पालन करे। समाज में उस व्यक्ति की श्रेष्ठता निर्विवाद होनी चाहिए और अन्तिम बात यह कि ऐसे प्रभुसत्ताधारी के लिये यह आवश्यक है कि सम्बन्धित राजा भूमि की दृष्टि से पर्याप्त विस्तृत होना चाहिये।

सम्प्रभुता सम्बन्धी आस्टिन की परिभाषा निम्न सिद्धान्तों पर आधारित है:

1. आस्टिन का प्रथम सिद्धान्त यह कि सम्प्रभुता राज्य का अनिवार्य लक्षण है। इस सिद्धान्त का आधार आस्टिन यह बताते हैं कि यदि किसी समाज में सर्वोच्चशक्ति नहीं है तो उसके अभाव में समाज अव्यवस्थित हो जायेगा।

2. प्रभुता सम्पन्न व्यक्ति श्रेष्ठ ही किसी राजनीतिक समाज की समस्त वैधानिकता का स्रोत होता है, इसलिये किसी भी प्रकार के कानून का बन्धन उस पर लागू नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त द्वारा आस्टिन स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि वैधानिक दृष्टिकोण से प्रभुता सम्पन्न व्यक्ति को स्वच्छन्द मान लिया है परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं होते। इसी सिद्धान्त को दृष्टिगत रखते हुए आस्टिन ने अपने प्रभुसत्ताधारी को नैतिक और व्यावहारिक मर्यादाओं द्वारा सीमित बतलाया है।

3. सम्प्रभुता की अविभाज्यता के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन आस्टिन करते हैं। इस सम्बन्ध में आस्टिन ने ब्लैकस्टोन के इस मत की आलोचना की है कि कार्यपालिका और विधानमण्डल एक-दूसरे का नियन्त्रण और सन्तुलन कर सकते हैं।

4. समस्त कानूनों का विधाता आस्टिन सम्प्रभु को मानता है और कहता है कि समस्त कानून केवल प्रभुसत्ता की इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करती है। इस सम्बन्ध में आस्टिन कहता है कि कानून उच्चतर राजनैतिक अधिकारी प्रभुसत्ताधारी का आदेश है, जो निम्नतर शासित लोगों को एक विशेष प्रकार के कार्य करने के लिए बाध्य करता है और जिसका उल्लंघन करने पर वे दण्ड के भागी होते हैं। प्रत्येक वास्तविक कानून प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभुसत्ताधारी द्वारा ही अपने आधीन व्यक्तियों के लिए बनाया जाता है।

यदि आस्टिन के आधार पर रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणाओं का उत्तर दिया जाय तो नकारात्मक होता है। राजनैतिक चिन्तकों ने आस्टिन की सम्प्रभुता की तथा सम्बन्धित की गई व्याख्याओं को अन्तिम रूप से सत्य माना है। आस्टिन ने प्रभुसत्ता के विषय में कहा है यदि कोई विहित मानवीय प्रवर पुरुष जिसका स्वभाव अपने समान पुरुष की आज्ञा पालन नहीं, किसी विशेष समाज के समूह से स्वाभाविक रूप से आज्ञा पालन कर लेता है, तब वह प्रवर पुरुष उस समाज में प्रभुसत्ता हो जाता है यहां पर आस्टिन रूसो की सामान्य इच्छा के विरुद्ध अपना मत व्यक्त करता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि आस्टिन ने केवल विहित पुरुषों या पुरुष में सम्प्रभुता को मान्य कहा है। उसके विचार से सम्प्रभुता का स्वर उस शक्ति में निहित है, जो विहित पुरुषों की ओर से प्रजाओं पर बिना किसी मर्यादाओं के लगायी जाती है। परन्तु यदि रूसो और आस्टिन की प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणाओं का विहंगम अध्ययन किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों को एक-दूसरे का पूरक मानकर प्रभुसत्ता के उस सत्यम विचार को प्राप्त किया जा सकता है, जिसका वास्तविक अस्तित्व है।

यह एक सामान्य सत्य है कि किसी भी पूर्णतः उन्नत राज्य में कोई न कोई पुरुष या पुरुष समुदाय अवश्य होता है, जिसके पास अन्तिम आश्रय के रूप में विधि के लगाने की, उसके अनुपालन की शक्ति होती है। यहां तक कि लोकतन्त्र में भी समस्त जनता की सभा में उपस्थित विहित पुरुषों के पास वह शक्ति होती है, अतः सर्वत्र उन्नत राज्य, जिसका लक्षण इस निश्चित सम्प्रभुता का अस्तित्व है, में भी सम्प्रभुता पूर्ण स्थापित होती है। इसकी पूर्ण स्थापना केवल दो दशाओं में हो सकती है।

1. परम्परागत या सामान्य या न्यायाधीशकृत विधि जो किसी पुरुष मण्डल की रचना नहीं है उसका या तो स्पष्ट अधिनियम द्वारा जो उस पुरुष मण्डल द्वारा किया जाता है, निलम्बन हो सकता है या वह

अधिनियम विधि द्वारा इस प्रकार बहुधा सुरक्षित होता है कि उसके विषय में यह औचित्यपूर्ण कहा जा सकता है कि वह सहनशीलता पर जीवित है, वह स्वयं वास्तव में प्रमुसत्ता विधान मण्डल द्वारा अधिनियम किया गया है।

2. जहां स्थानीय विधानमण्डलों के बीच में या उप विधानमण्डल के बीच में सर्वोपरि होने का दावा करता है, अधिकार का कोई प्रश्न नहीं उठ सकता है। परन्तु यद्यपि राज्य का संगठन अनेक सभ्य तथा सम्पन्न राज्यों में सर्वत्र पूर्ण नहीं है तथापि निःसन्देह इसके अन्दर उस शक्ति का वास है जो विधियों का निर्माण तथा उनका प्रवर्तन करती है जो वैद्य रूप से अनियन्त्रित है जो प्रायः पुरुष मण्डलों में पाई जाती है।

आधुनिक राज्यों में सम्प्रभुता की परिभाषा उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों का निश्चय जिनके पास विधि निर्माण तथा पर्वतन की सर्वोच्च शक्ति का वैध रूप से वास है शनैः शनैः ही प्राप्त हुई है।

उपर्युक्त विवरण के अध्ययन के पश्चात् निम्न निर्णय लिए जा सकते हैं :

1. सम्प्रभुता जनता में निहित होती है।
2. जनता शासन संचालन के लिए अपनी प्रभुता को कुछ निश्चित व्यक्तियों को एक समय के लिए संकलित कर देती है।
3. सम्प्रभुता का निर्वाह करने वाले यह निश्चित व्यक्ति वैध रूप से मान्य होते हैं तथा विधि का अंकुश निहित रहता है।
4. राज्य के आवश्यक अंग में सम्प्रभुता एक प्रमुख अंग है। इस गुण के अभाव में सम्प्रभुता की कल्पना नहीं की सकती है।

सम्प्रभुता की विशेषतायें :

आस्टिन का सम्प्रभुता सम्बन्धी विवेचन एवं लेखकों ने सम्प्रभुता की परिभाषायें दी हैं उन सबको दृष्टिगत रखते हुए सम्प्रभुता के विभिन्न लक्षण अथवा विशेषतायें सामने ऊभर कर आती है उन्हें हम निम्न प्रकार रख सकते हैं :

सर्वव्यापकता :

सम्प्रभुता सर्वव्यापक होती है अर्थात् राज्य के अन्तर्गत जो भी व्यक्ति, समुदाय, वस्तु अथवा कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं हो सकता जो उसके अधिकार क्षेत्र और नियन्त्रण से मुक्त होने का दावा कर सके। उसके आदेश राज्य की सीमा के

अन्तर्गत आने वाले सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होगा यद्यपि ऐसा अवश्य है कि कुछ व्यक्तियों क्षेत्रों अथवा वस्तुओं को स्वेच्छा से प्रभुत्व शक्ति अपने नियंत्रण में नहीं रखती तब भी साधारणतः प्रभुत्व शक्ति का अधिकार व उसका नियन्त्रण सर्वव्यापी होता है। उदाहरण के लिए देश में निवास करने वाले दूसरे राज्यों के राजदूत और राज्यों के प्रमुख व्यक्ति, राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री आदि या किसी देश के सम्मानित व्यक्ति जो निमन्त्रित हो ऐसे व्यक्ति भी प्रभुसत्ता और कानूनों से मुक्त माने जाते हैं। परन्तु इससे राज्य की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण नहीं क्योंकि राज्य स्वयं ही अपनी इच्छा से अपने देश में आने वाले विदेशियों को इस प्रकार के विशेष अधिकार देने की अपनी स्वीकृति प्रदान करता हैं और अन्तराष्ट्रीय कानून और शिष्टाचार की यह पद्धति सभी देशों द्वारा स्वीकार की जाती है। यही कारण है कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति को सर्वव्यापक कहा जाता है और सर्व-व्यापकत्व उसकी एक मुख्य विशेषता है।

सर्वप्रधानत

सर्वप्रधानता अथवा निरंकुशता इससे तात्पर्य है कि राज्य में सम्प्रभुता सर्व-प्रधान शक्ति है। प्रभु की यही परिभाषा की जाती है कि उससे ऊपर उसके अधिकारों को सीमित या मर्यादित करने वाली शक्ति कोई नहीं होती है। चूंकि सम्प्रभुता पर उसे नियन्त्रित करने वाला अंकुश या प्रतिबन्ध न होने के कारण यह सर्वथा अमर्यादित होती है। इस प्रकार सम्प्रभुता में ये तीनों ही विशेषतायें पायी जाती है यह स्वयं में निरंकुश असीम एवं अमर्यादित होती है। सम्प्रभुता की सर्व-प्रधानता दो प्रकार बांटी जा सकती है।

1. आन्तरिक दृष्टि से, एवं
2. वाह्य दृष्टि से।

आन्तरिक दृष्टि से हम इस प्रकार मान सकते हैं कि प्रभु को अपने राज्य में रहने वाले सभी व्यक्तियों और इनके द्वारा निर्मित संघों पर पूर्ण रूप से प्रभुसत्ता प्राप्त होती है। इस क्षेत्र में यदि राज्य की सत्ता पर कोई प्रतिबन्ध हो तो वे सब स्वयं राज्य ही लगाता है।

वाह्य दृष्टि से सम्प्रभुता की मान्यता प्रतिबन्ध रहित एवं निरंकुश होती है। यह अन्य राज्यों के किसी प्रकार के हस्तक्षेप और प्रभात से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र और इच्छानुसार कार्य करती है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों और समझौते को अपनी इच्छानुसार तोड़ सकता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि व समझौते भी किसी राज्य की सम्प्रभुता को प्रभावित नहीं कर पाते। इसका उदाहरण है कि जर्मनी ने इंग्लैंड तथा फ्रांस के साथ वैल्जियम की तटस्थता के बारे में प्रथम विश्वयुद्ध में

सन्धि की और उसको तोड़ कर फ्रांस पर आक्रमण कर दिया था। यह उदाहरण बताता है कि प्रभुसत्ता का अतिक्रमण अथवा उस पर नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय समझौते भी नहीं कर सकते। वे केवल नाममात्र के हैं। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मान्यता सम्पूर्ण विश्व में है परन्तु उसका आधार प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की सहमति से होता है। इससे स्पष्ट होता है कि सम्प्रभुता सर्वप्रधान अथवा निरंकुश है।

स्थायित्व :

स्थायित्व प्रभुसत्ता की प्रमुख विशेषता है। जब तक राज्य का अस्तित्व वहां पर प्रभुसत्ता का होना अनिवार्य है। इस प्रकार जब तक किसी राजा की सत्ता बनी रहेगी तब तक वहां पर प्रभुसत्ता भी बनी रहेगी। प्राचीन काल में जब राज्यों का स्वरूप स्वेच्छाचारी एकतन्त्र का होता था तब भी राजा की मृत्यु हो जाने पर प्रभुत्वशक्ति का अन्त नहीं होता था वरन् उसके उत्तराधिकारी के हाथ में प्रभुत्वशक्ति का निवास उसके राजा बने रहने तक आ जाता था। प्रभुत्व शक्ति यथावत बनी रहती है। आधुनिक युग में भी राज्य का स्वरूप लोकतंत्रात्मक तथा प्रभुत्वशक्ति का निवास जनता में माना जाता है। वह स्थायी होती है। प्रजातन्त्र में राज्यों में प्राय: सरकारें बदलती रहती हैं परन्तु सरकारों के बदलने में प्रभुत्वशक्ति के स्थायित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता हैं और वह अखण्ड व स्थिर बनी रहती है। इसी प्रकार अगर कोई राज्य किसी राज्य को अपने अधिकार में कर लेता है तब भी ज्यों का त्यों बना रहता है अन्तर केवल इतना आता है कि प्रभुत्वशक्ति विजेता राज्य के हाथों चली जाती है।

एकता व अविभाजनीयता :

सम्प्रभुता की एक विशेषता यह भी है कि वह स्वयं में अविभाज्य है अर्थात् उसका विभाजन नहीं हो सकता। वह (सम्प्रभुता) एक समग्र वस्तु है उसे एक से अधिक व्यक्तियों में बांटा नहीं जा सकता। सम्प्रभुता का प्रयोग एक के स्थान पर अनेक सत्ताधारी नहीं कर सकते। चूंकि ऐसी स्थिति में प्रभु के अन्य अनेक समानपदी उत्पन्न हो जायेंगे और प्रभुता में सर्वोपरिता नहीं रह जायेगी। इसलिए आर० जी० गैटिल ने कहा है, 'यदि प्रभुसत्ता निरंकुश न हो राज्य का अस्तित्व नहीं हो सकता है। यदि प्रभुता को बांट दिया जाए तो एक से अधिक राज्य स्थापित हो जायेंगे। इसी प्रकार प्रभुत्व शक्ति की अविभाजनीयता से अनेक विचारक असहमत हैं। इसके उदाहरण में अंतराष्ट्रीय कानून के अनेक लेखकों ने रक्षित राज्यों जैसे अर्द्धस्वतन्त्र राज्यों की चर्चा की है, जो बाह्य दृष्टि से पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न नहीं होते। जैसे मैक्सिको व स्विटजरलैण्ड के संविधानों में

भी प्रभुत्व शक्ति की विभाजनीयता को स्वीकार किया गया है। फ्रीमैन ने इस बात पर जोर दिया कि संघात्मक आदर्श की पूर्णता के लिए प्रभुत्व शक्ति का पूण विभाजन अनिवार्य है।[21] जर्मन साम्राज्य के निर्माण के समय के जर्मन लेखकों ने भी इसी विचार का समर्थन किया है कि प्रभुत्वशक्ति विभाजनीय है। प्रभुसत्ता की अविभाज्यता के सम्बन्ध में कैलहन का कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है, "प्रभुसत्ता एक समग्र वस्तु है, उसे विभक्त करने का अर्थ उसका विध्वंस करना है, यह राज्य की सर्वोच्च शक्ति है। आधी प्रभुसत्ता की बात करना वैसा ही है जैसे आधे वर्ग या आधे त्रिभुज की करना।[22]

अदेयता :

सम्प्रभुता की एक विशेषता अदेयता भी है अर्थात् राजा की प्रभुसत्ता किसी अन्य व्यक्ति विशेष के हाथों सौंपी नहीं जा सकती। यदि वह उसे किसी अन्य व्यक्ति अथवा समुदाय को प्रदान करता है तो सर्वोच्च सत्ता के रूप में उसका अस्तित्व बना नहीं रह सकता अर्थात् दूसरों को देने पर अपनी सत्ता को नष्ट करना है। जिस प्रकार अस्टिन ने कहा है कि सर्वोच्च सत्ताधारी अपने जैसे किसी अन्य उच्च सत्ताधारी के आदेशों का पालन करने का अभ्यस्त नहीं होता। इसी प्रकार कोई राज्य अपने प्रदेश का कोई एक हिस्सा किसी दूसरे राज्य को अगर देता है तो ऐसी स्थिति में उस राज्य का जिसने अपना हिस्सा दिया है अपने उस हिस्से मात्र से ही अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग करता है, किन्तु अपनी प्रभुसत्ता का विध्वंस या विनाश नहीं करता जिस प्रकार 1971 में पाकिस्तान ने अपने राज्य के एक हिस्से पर से अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग किया किन्तु दूसरे हिस्से पश्चिमी पाकिस्तान में उसकी प्रभुसत्ता पूर्ववत बनी रही। आशीर्वाद ने लिखा है कि प्रभुसत्ता राजा के व्यक्तित्व का मूल तत्व है और इसका हस्तान्तरण आत्म-हत्या के तुल्य है।

अपृथक्करणीयत्व :

अपृथक्करणीयत्व भी सम्प्रभुत्ता की एक विशेषता है। प्रभुसत्ता एक ऐसी वस्तु है जो राज्य में से पृथक नहीं की जा सकती। चूंकि अगर इसे राज्य में से पृथक किया जायेगा तब राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। ऐसा भी भ्रम हो सकता है कि किसी राज्य के किसी हिस्से को अलग करने अथवा उसका कोई भाग किसी दूसरे राज्य द्वारा जीत जाने पर उस खण्ड अथवा हिस्से से जुड़ी हुई

---

21. फ्रीमैन, दि हिस्ट्री आफ फिडम गवर्नमेंट, पृ० 4।
22. कैलहन वर्क्स वाल्यूम 1, पृ० 146।

सम्प्रभुता उस राज्य से पृथक हो जाती है परन्तु ऐसा नहीं होता है वरन् ऐसी परिस्थितियों में प्रभुत्व शक्ति का स्थानान्तरण होता है। पृथक्करण नहीं, तथा इसका उपयोग दूसरे प्रभु द्वारा संचालित होने लगता है जैसे भारत से पाकिस्तान के प्रदेश पृथक हुये किन्तु पृथक होने वाले इन प्रदेशों से शक्ति पृथक हो गई हो ऐसा कुछ भी नहीं हुआ बल्कि इन प्रदेशों की प्रभुत्व शक्ति पूर्ववत् विद्यमान रही। इस प्रकार राज्य के अनेक टुकड़े होने पर भी या उसकी सीमाओं में परिवर्तन होने पर भी अथवा एक राज्य के दूसरे में मिलने से प्रभुत्व शक्ति राज्य से पृथक नहीं होती वरन् उसके प्रयोगकर्ता बदल जाते हैं। जिनके द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार राज्य से प्रभुत्वशक्ति जब ही अलग की जा सकती है जब राज्य का सदा के लिये विनाश हो जाये, उसे अपृथक्करणीय माना जाता है।

सम्प्रभुता के प्रकार :

सम्प्रभुता के विषय में बहुत ही मत विभिन्नता है। विचारकों ने सम्प्रभुता के अनेक रूपों का प्रतिपादन किया। कुछ विद्वानों ने जनतंत्रात्मक रूप को महत्व दिया। कुछ ने उसके कानूनी पहलू पर कुछ अन्यों ने उसके राष्ट्रीय रूप का प्रतिपादन किया तो कुछ विद्वानों का मत है कि सम्प्रभुता का राजनीतिक रूप महत्वपूर्ण है। अब भी राजनीतिक विचारकों में इस बात पर मतभेद है कि राज्य का वास्तविक रूप क्या होना चाहिये। जहां रूसो जैसे विचारक यह मानते कि हैं राज्य की प्रभुता अन्त में जनता में निवास करती है वहां जर्मनी के विचारक उग्र स्वेच्छाचारितापूर्ण राज्य का समर्थन करते हैं। कुछ विद्वानों लार्डब्राइस के कथन को उपयुक्त मानते हुये राजा की प्रभुता के अमूर्त स्वरूप को लेकर बहस करते हैं। लार्ड ब्राइस कहते हैं हमको निरर्थक शब्द जाल में फंसा रखा है। जहां वास्तविक तथ्य कुछ भी नहीं है, जिन लोगों ने राज्य की प्रभुता को लेकर शब्दों का जाल रचा है उनके उद्देश्य पवित्र नहीं हैं। वे केवल आदर्शवादी प्रचारक है। इस प्रकार विभिन्नताओं को देखते हुये सम्प्रभुता के स्वरूप को भली भांति समझने के लिये अपनी सुविधानुसार इसके विभिन्न प्रकारों को समझा जा सकता है।

नाममात्र की प्रभुता :

जिन राज्यों में संवैधानिक शासन होता है, उनके राज्य के अध्यक्ष को नाममात्र का प्रभु कहा जाता है तथा उनमें विहीन प्रभुता को नाममात्र की प्रभुता कहा जाता है। नाममात्र की प्रभुता की उत्पत्ति राष्ट्र-राज्य के अभ्युदय के तुरन्त पश्चात सतरहवीं शताब्दी में हुई। मध्ययुग में निरकुश राजा होते थे और राज्य की प्रभुता के प्रतीक राजा थे। उस समय लुई चौदहवें (1643-1715) जैसे राजा यह कहा करते थे कि राज्य क्या है ? मैं ही राज्य हूं। परन्तु

शीघ्र ही राजा तथा प्रजा में युद्ध छिड़ गया। जनता (प्रजा) ने अपने अधिकारों की मांग करते हुये राजा की निरंकुश तथा असीमित सत्ता को चुनौती दी। जनता कहती थी कि उनके द्वारा प्रदान की गई शक्ति का प्रयोग राजा करे अन्तत: शक्ति उन्हीं की है। राजा अपने निरकुश अधिकारों का समर्थन राजाओं के दैवी सिद्धान्त के अधिकार पर करने लगे। इस संघर्ष में इंग्लैण्ड में 1688 की शानदार क्रान्ति में और इसके एक शताब्दी बाद 1789 की फेंच राज्य क्रान्ति में प्रजा की विजय हुई। 19 वीं शताब्दी में योरोप के अधिकांश देशों में राजाओं की सत्ता सीमित करने वाले संविधान विभिन्न देशों में बनाये गये। जिनके अन्दर राजा के निरंकुश अधिकारों को बांधते हुये कानूनन इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई। इस प्रकार राजाओं की शक्ति सीमित और विधि-विहित हो गई। वह राज्य के अध्यक्ष के रूप में स्थान पर रख लिया गया परन्तु प्रशासन चलाने के लिये उसे प्रजा के प्रतिनिधियों की अनुमति और मन्त्रणा लेने के लिये बाध्य कर दिया गया। ये प्रतिनिधि उसके सचिवों की नियुक्ति व पदच्युति राजस्व के उगा ने एवं सरकार के हित में प्रत्येक कार्य में अग्रणी होते हैं। इस प्रकार वास्तविक प्रभुसत्ता राजा के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं तथा व्यक्तियों (संसद, मंत्री-मण्डल) आदि में निहीत रहती है। इस प्रकार वैधानिक सरकार का आगमन हुआ।

नाममात्र की प्रभुता राजा की उस सर्वोच्च शक्ति की ओर इशारा करती है जिसने किसी भी वास्तविक शक्ति का प्रयोग छोड़ दिया है। इस प्रकार की प्रभुसत्ता का सर्वोत्तम उदाहरण ब्रिट्रेन का राजा है। ब्रिट्रेन में राजा की स्थिति कानूनी रूप से सर्वोच्च हैं। सभी शक्तियों का समावेश राजा में ही है। न्याय और कानून सम्पूर्ण सत्ता एवं सरकारी कर्मचारियों के कार्यों की व्यवस्था का स्रोत है। परन्तु वस्तुतः यह सब सत्य नहीं है। सरकार का कोई भी कार्य राजा द्वारा नहीं किया जाता। राजा केवल न्याय मात्र का ही है, जबकि सम्पूर्ण कार्य मन्त्रियों द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। लावेल ने इस बारे में लिखा है कि संविधान के आरम्भिक सिद्धान्त के अनुसार मन्त्री राजा के परामर्शदाता थे। उनका काम राजा को सलाह देना और राजा का काम निर्णय करना था, किन्तु अब यह स्थिति बिलकुल उलट गई है। राजा से परामर्श लिया जाता है, परन्तु अन्तिम निर्णय मन्त्रियों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार राजा के पास अब वहां वास्तविक प्रभुसत्ता नहीं है।

कानूनी प्रभुसत्ता :

कानूनी प्रभुता का सम्बन्ध उस व्यक्ति या व्यक्तियों के उस समुदाय से है जिन्हें कानून द्वारा अन्तिम आदेश जारी करने का अधिकार है। राजा की ऐसी

अधिकार शक्ति जो वैध-रूप में कानून बनाये जिसका लोग पालन करें उसे वैध-प्रभु कहा जाता है। जिसकी अधिकार शक्ति अन्तिम है। गार्नर के शब्दों में वैध-प्रभु वह निश्चयात्मक अधिकार शक्ति है जो राज्य के उच्चतम आदेशों को वैध रूप में व्यक्त करने योग्य हो। वह ऐसी शक्ति होनी चाहिये जो दैवी नियम के परम्परागत अधिकार सार्वजनिक मत की आज्ञाओं आदि का अतिक्रमण कर सके।[23] न्यायालय केवल मात्र उन्हीं नियमों को कानून मानते हैं और लागू करते हैं जो इस कानूनी प्रभु से प्रादभूत होते हैं। ऐसे नियमों का उल्लंघन करने पर राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता है। कानूनी प्रभु की सत्ता पूर्ण, निरंकुश, अविभाज्य अमर्योदित समझी जाती है। कानून अवैध नहीं होता चूंकि वह प्रभु इच्छा का फलपूरक माना जाता है। उसके हर कार्य में स्वतन्त्रता बसी हुई है।

कानूनी प्रभुसत्ता की प्रमुख विशेषताओं को हम इस प्रकार भी रख सकते हैं :

कानूनी प्रभुता सदैव स्थिर और निश्चयात्मक है।

कानूनी प्रभुता निश्चित रूप से संगठित और स्पष्ट होती है तथा कानून द्वारा मान्य होती है।

कानूनी प्रभुता का वास राजा के व्यक्तित्व में है, परन्तु यह केवल राजतन्त्र में तथा लोकतन्त्र में व्यक्तियों के समुदाय में होता है।

कानूनी प्रभु की आज्ञाओं का उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था है।

कानूनी प्रभु के अधिकार क्षेत्र में यह बात भी निहीत है कि वह राज्य की इच्छा को कानूनी शब्दों में प्रकट करे।

सब अधिकारों की कानूनी प्र भु से उत्पत्ति होती है और वे ही अधिकार शक्ति उन्हें वापिस ले सकती है या उन्हें रद्द कर सकती है।

कानूनी प्रभुता की अधिकार शक्ति स्वेच्छाचारी, असीम और सर्वोच्च है। यह राज्य के भीतर या बाहर किसी भी अन्य सत्ता से नियन्त्रित नहीं होती।

राजनैतिक संप्रभुता :

डायसी राजनैतिक प्रभुता को अपनी पुस्तक ला आफ दि कान्सटीट्यूशन में लिखते हैं कि, 'वह व्यक्ति या संस्था राजनीतिक प्रभु है जिसकी इच्छा अन्ततोगत्वा राज्य के नागरिक मानते हैं।'[24] इसी प्रकार गिलक्राइस्ट राजनीतिक प्रभुता

---

23. गार्नर, पालिटिक्स साइंस आफ गवर्नमेंट, पृ० 160।
24. डायसी, ला आफ कांस्टीट्यूशन, द्वितीय संस्करण, पृ० 18।

को व्यक्त करते हैं, 'राजनीतिक प्रभु किसी राज्य में किसी कानून को बनाने के पीछे कार्य करने वाले सभी प्रभावों की समष्टि या समग्र रूप है।[25] आधुनिक लोकतन्त्र में राजनीति प्रभु समग्र जनता जन-प्रतिनिधियों का चुनाव करने वाला निर्वाचक वर्ग लोकमत में समझा जा सकता है। परन्तु इनमें से किसी किसी को पूर्ण रूप से राजनीतिक प्रभु नहीं माना जा सकता है। यद्यपि राजनीतिक प्रभुता निश्चियतात्मक नहीं परन्तु फिर भी यह किसी भी दशा में कम वास्तविक नहीं है। राजनीतिक दल, समाचार पत्र, जन-सभायें आदि भी इसी क्षेणी में आते हैं इनमें जो भी प्रस्ताव रखे जाते हैं वह कानून की श्रेणी में नहीं बदल सकते और न ही न्यायालय या प्रशासक उनका अनुकरण कर सकते हैं। वे कानून का निर्माण उसी दशा में कर सकते हैं जबकि कानूनी प्रभु अपनी सत्ता की पृष्ठभूमि पर कानूनी स्वरूप प्रदान कर दे। निर्वाचन मण्डल राजनीतिक प्रभुता का निर्माण प्रतिनिध्यात्मक सरकारों में करता है और प्रत्यक्ष लोकतन्त्र में जनता बहुत से राज्यों में कभी-कभी राजनीतिक प्रभु सर्वथा सुप्तावस्था में पाया जाता है। एक उन राजतन्त्रों में राजनीतिक प्रभु नहीं हो सकता, जहां राजा वंशानुगत गद्दी प्राप्त करता है न कि जनमत की इच्छा से।

इस प्रकार राजनीतिक प्रभुता अस्पष्ट और अनिश्चित सी जान पड़ती है। कई जगहों पर यह भ्रमात्मक हो जाती है। इसके लिये लीकांक सही लिखते हैं कि, 'जितना ही कोई अन्तिम राजनीतिक प्रभुता की खोज करता है उतना ही अधिक वह उससे दूर जान पड़ती है।[26] कुल मिलाकर राजनैतिक सम्प्रभुता को हम इस प्रकार ले सकते हैं कि राजनीतिक प्रभुसत्ता का अभिप्राय राज्य के अन्तर्गत उन समस्त संस्थाओं तथा साधनों के योग से है जो कानूनी-प्रभु को प्रभावित करते रहते है और जिनसे प्रभावित होकर कानून-प्रभु कानून-निर्माण का कार्य करता है।

लोक संप्रभुता :

सम्प्रभुता का एक अन्य रूप वह होता है जिसे जनता में निहित माना जाता है जिसे लोक-प्रभुता के नाम से पुकारा जाता है। इस सिद्धांत को जन्म देने वाले राजा के विरोधी लेखक 16वीं 17वीं शताब्दी के मार्सिलियो, जार्ज, बुकानन, टामस, बावलें एवं फ्रान्सिस हाटमैन आदि थे इन्होंने निरंकुश राजतन्त्र की प्रचलित प्रणाली का विरोध करने में प्रकृति के नियम और इकरार के सिद्धान्त के

---

25. गिलक्राइस्ट, पृ० 93।
26. लीकांक, पोलिटिकल साइंस, पृ० 60।

आधार पर लोक-प्रभुत्व के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। इसके अनुसार प्रभुत्व पर अधिकार जनता का था वह राजा को नहीं दिया। थोड़े समय उसका संचालन स्वयं न करने से वह जनता के हाथ से नहीं निकल सकता। रूसो इसके प्रबल प्रचारक थे। अमेरिका के संविधान के रचयिताओं ने यह लिखा कि सरकार अपनी अधिकार शक्ति शासितों से प्राप्त करती है। तब से लेकर लोक सम्प्रभुता ब्राइस के अनुसार लोकतन्त्र का पर्याय बन गई।[27]

इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझने के लिये लोक शब्द को पूर्ण रूप से समझना आवश्यक है। जनता का विशाल समूह जिसे राज्य की ओर से शासन करने वाले प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार प्राप्त है उसी को जनता (लोक) कहा जाता है। जनता का यही समूह प्रभुता के प्रयोग में भाग लेता है चाहें वह प्रत्यक्ष लोकतन्त्र हो अथवा अप्रत्यक्ष। इस सम्बन्ध में गार्नर ने काफी स्पष्ट किया है उन्होंने लिखा है कि वैधानिक रीति से प्रभुता का उपयोग वही व्यक्ति कर सकते हैं जिहें कानून द्वारा मतदान करने का अधिकार प्राप्त हो। असंगठित जनमत चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, तब तक सम्प्रभुता नहीं बन सकता जब तक कि उसे कानूनी रूप प्राप्त न हो जाये। यह ठीक उसी तरह है जैसे कि सदन के सदस्यों का कोई अनधिकृत या व्यक्तिगत प्रस्ताव विधि नहीं बन सकता। इस प्रकार देखने पर स्पष्ट बात उभरती है कि लोक-प्रभुता में दो बातों का समावेश है पहली तो विस्तृत मताधिकार और दूसरी जनता प्रतिनिधियों द्वारा विधान-मण्डलों पर नियन्त्रण।

यह सिद्धान्त सर्वमान्य होते हुये भी अत्यधिक स्पष्ट अनिश्चित है क्योंकि यह नहीं पता चलता कि प्रभुता रखने वाली जनता कौन सी है। वे सब स्त्री, पुरुष, वृद्ध एवं बच्चे अगर वे हैं तो यह कोई संगठन ती है नहीं और जब संगठन नहीं तो वे सब भीड़ से अधिक कुछ नहीं हो सकते और अगर सब संगठित ही है किन्हीं नेतागणों द्वारा संगठित है तो सम्प्रभुता का उपयोग तो वे नेतागण ही करते हैं। फिर जनता अथवा लोक-प्रभुता कैसी गैटिल ने इस सम्बन्ध में कहा है कि जनता की प्रभुता एक विरोधी शब्द है क्योंकि राज्य का अभिप्राय: एक निश्चित प्रदेश में कानून द्वारा संगठित जनता से है। उसमें किसी प्रकार का संगठन और शासन की पद्धति अवश्य होनी चाहिए नहीं तो किसी राजा का अस्तित्व नहीं रह सकता।

लोक प्रभुता के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से देखने पर स्पष्ट होता है कि यह अस्पष्ट है और उसके अर्न्तगत प्रभुता एक प्रकार से अनिर्धारित है। परन्तु फिर

---

27. ब्राइस, मार्डन डैमोकस्सीस, वाल्यूम 1, पृ० 143।

भी इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकी। चूंकि यह अत्यधिक लोकप्रिय विचार है। रित्शे तथा अन्य विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि राजनीतिक अधिकार का आखिरी स्रोत हमेशा जनता में पाया जाता है। लोगों द्वारा ही राज्य का वर्चस्व होता हैं उसे उनकी भावनाओं की कद्र करनी चाहिये। वैद्यानिक रूप से प्रभुत्व चाहे जनता के हाथ में न हो परन्तु फिर भी प्रभु शक्ति पर शक्तिशाली अवरोध तो अवश्य ही है। लोगों की अपेक्षा वेद्य प्रभु शक्ति लम्बे समय तक कर ही नहीं सकती। यदि ऐसा किन्ही परिस्थितियों में सम्भव होता भी है तो वह समय क्रान्ति का सूचक है। इसका उदाहरण 1977 में भारत में हुए आम चुनाव हैं जिनके अन्दर सत्तारुढ़ पार्टी कांग्रेस को नवगठित पार्टी द्वारा करारी पराजय का सामना करना पड़ा। इस सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट ने अपने विचार इस प्रकार प्रतिपादित किये, 'लोक नियन्त्रण लोक प्रभुता में अन्तर्विहित विचार को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।'[28]

विधितः और वास्तविक प्रभुता :

वैद्यानिक प्रभुसत्ता को ही विधित प्रभूता कहा जाता है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि वैद्यानिक दृष्टि से राज्य के लिये कानून का निर्माण करना जिसके अधिकार के क्षेत्र में है। कानून भी लागू उसकी के नाम से होते एवं वैंद्यानिक दृष्टि भी शासन करने का अधिकार उसी सत्ता को प्राप्त है। इस प्रकार भौतिक शक्ति पर आधारित न होकर कानूनी शक्ति पर आधारित है। इसे अधिक स्पष्ट करने पर इस प्रकार कहा जा सकता है कि देश के संविधान द्वारा जिस व्यक्ति या समुदाय को शासन करने का अधिकार दिया जाता है उसे विधितः प्रभुता कहा जाता है।

वस्तुतः प्रभुता की स्थिति किसी भी क्रांति गृहयुद्ध, विदेशी आक्रमण का परिणाम होती है। विधित प्रभुता के स्थान पर गृहयुद्ध अथवा समुदाय द्वारा राज्य की शासन की बागडोर लेकर राज्य की जनता से अपनी आज्ञाओं का पालन कराने लगे। तो जब इस प्रकार वैद्यानिक अधिकार न प्राप्त होते हुए भी जो व्यक्ति अथवा समुदाय जनता द्वारा अपनी आज्ञाओं का पालन करा सकने में समर्थ हो उसे वस्तुतः प्रभुता की संज्ञा दी जाती है। विधित एवं वस्तुतः प्रभुता के कई उदाहरण विश्व इतिहास में सुलभ हैं। जर्मनी में हिटलर से वस्तुतः प्रभु शक्ति को स्वयं में निहित कर लिया था और विधिवतः प्रभुशक्ति हिटलर अर्थात् वस्तुतः प्रभुशक्ति से तुच्छ थी। इसी प्रकार मुसोलनी के नेतृत्व में काली कुर्ती दल वाले फासिस्टों ने रोम पर आक्रमण किया तो वहां कानूनी रूप से सर्वोच्च सत्ता

---

28. गिलक्राइस्ट, पृ० 95।

इटली की संसद को प्राप्त थी। संसद ने मुसोलनी को प्रधानमंत्री बनाया और उसके बाद मुसोलनी ने यद्यपि संसद के माध्यम से देश की बागडोर संभाली उसे विधितः प्रभुता बनाये रखा, किन्तु प्रभुता मुसोलनी था क्योंकि संसद में जो कानून पास होते हैं वे फासिस्ट दल के नेता के रूप में मुसोलनी करता था।

इस प्रकार के प्रसंगों से इतिहास भरा पड़ा है जिससे स्पष्ट लगता हैं कि वस्तुतः प्रभुता राज्य की सबसे बड़ी शक्ति को कहा जा सकता है और उसी की आज्ञाओं का पालन किया जाता है। परन्तु वस्तुतः एवं विधित प्रभुशक्ति के बीच विरोध होने का सीधा-सा अर्थ है कि राज्य में अराजकता का प्रवेश। इस सम्बन्ध में गार्नर कहते हैं कि, 'वह प्रभुत्व जो अपनी शक्ति को स्थिर रखने में सफलता प्राप्त करता है वह कुछ समयोपरान्त वैद्ध प्रमुत्व बन जाता है। यह क्रिया या तो लोगों की सहमति द्वारा सम्भव होती है अथवा राज्य के पुनः संगठन द्वारा। यह कुछ-कुछ ऐसा है कि निजी जीवन में वास्तविक अधिकार पुरातनता द्वारा वैद्य स्वामित्व के रूप में परिपक्व हो जाता है।[29] इस प्रकार इन दोनों में संघर्ष की स्थिति पैदा होने पर एक ही समारत होना सुनिश्चित है। वस्तुतः प्रभुता की परीक्षा इस बात पर निर्भर करती है कि वह निरन्तर बनी रहे और कुछ समयोपरान्त विविध प्रभुता प्राप्त कर ले।

सम्प्रभुता का निवास :

सम्प्रभुता का उपभोग कौन से व्यक्ति या समूह करते हैं ? सम्प्रभुता का निवास कहाँ है ? यह एक जटिल समस्या है। आस्टिन एवं एकवादी लेखकों के मतानुसार सम्प्रभुता का निवास किसी निश्चित व्यक्ति समूह में होता है। परन्तु बहुलवादी समर्थक लेखकों के अनुसार सम्प्रभुता का निवास-स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता। इस मत-विभिन्नता के कारण सम्प्रभुता के निवास-स्थान को निश्चित नहीं किया जा सकता है। परन्तु सम्प्रभुता विहीन राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसलिये सम्प्रभुता के निवास-स्थान के सम्बन्ध में निम्न मत प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

1. सम्प्रभुता का निवास राजा में :

16वीं शताब्दी तक के विद्वानों के अनुसार सम्प्रभुता राज्य की अपेक्षा राजा का गुण था। राजा की आज्ञाओं का पालन करना साधारण व्यक्तियों का नैतिक धर्म माना जाता था। फ्रांस का शासक लुई 14वाँ तो यहाँ तक करता था कि

29. गार्नर, पालिटिकल साईंस एण्ड गवर्नर, पृ० 168।

'मैं ही राज्य हूं, मैं ही शासक हूं।' 'राजा को कानूनों का स्रोत माना जाता था। वह ही कानून निर्माता था, परन्तु स्वयं कानूनों के ऊपर था। रजानैतिक विद्रोह तथा लोकतंत्र की स्थापना के परिणामस्वरूप इस सिद्धान्त का अन्त हो गया और सम्प्रभुता को राजा की अपेक्षा राज्य का लक्षण माना जाने लगा।

2. सम्प्रभुता का निवास जनता में :

16वीं तथा 17वीं शताब्दी के जन आन्दोलन के फलस्वरूप यह माना जाने लगा कि सम्प्रभुता की पूर्ण अधिकारी जनता है। प्राचीन भारत के सन्दर्भ में कई स्थानों पर मिलता है कि जन-स्वीकृति की आवश्यकता होती थी।

इस सम्बन्ध में एक और प्रश्नचिन्ह खड़ा हो जाता है कि जनता किस प्रकार अपनी प्रभुत्व शक्ति का प्रदर्शन करती है। यदि इस प्रकार मान लिया जाये कि किसी राज्य में जनता अपने अधिकारों की भली भाँति समझती है, राजनीतिक सन्दर्भों में दिलचस्पी लेती है और लोकमत वहाँ जागरूक एवं प्रवुद्ध है, ऐसी परिस्थितियों में भी जनता अपनी प्रभुत्व शक्ति को प्रयुक्त नहीं कर पाती है। प्रभुत्वशक्ति का प्रयोग तो शासन का वह अंग करता है, जिसे कानून द्वारा उसे प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त हो। इसमें एक सम्भावना यह है कि शासन का अंग अगर कानून बनाते समय जनमत की उपेक्षा करे तो जनता आन्दोलन अथवा क्रान्ति द्वारा उसका अन्त अवश्य कर सकती है, पर क्रान्ति द्वारा शासन के स्वरूप में परिवर्तन लाने को प्रभुत्वशक्ति नहीं कहा जा सकता। इस सिद्धान्त को मानने में निम्न कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं :

(अ) जन सामान्य को सम्प्रभु नहीं माना जा सकता क्योंकि वे असंगठित होते हैं और सम्प्रभु संगठित।

(ब) निर्वाचकों को भी सम्प्रभु नहीं माना जा सकता क्योंकि वे सम्पूर्ण जनता का एक विशेष अंगमात्र ही है।

(स) जनता का मत जनमत माना जाता है न कि कानून। उपर्युक्त मतानुसार जनता को राजनैतिक सम्प्रभु माना जा सकता है। परन्तु उसे कानूनी सम्प्रभु स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जनता की सम्प्रभुता के केवल दो अर्थ हैं। शान्ति के समय जनमत, तथा अशान्ति के समय क्रान्ति की शक्ति।

3. सम्प्रभुता का निवास संविधान निर्मांत्री सभा में :

19वीं शताब्दी के विधानशास्त्रियों ने यह विचार किया कि आधुलोकतन्त्रीय राज्यों में ऐसी कौन-सी सत्ता है जिसमें सम्प्रभुता की स्थिति को

स्वीकार किया जा सके। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सम्प्रभुता उस सभा में निहित है जिसे संविधान बनाने का अधिकार है। संविधान को राज्य का सर्वोत्तम कानून माना गया है और इसलिये वह सभा-समिति जो उसका निर्णय करती है उसे सम्प्रभु माना जाना चाहिये। परन्तु इस सिद्धान्त में निम्न स्थितियों में विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है :

(अ) सम्प्रभुता स्थायी मानी गई है परन्तु विधाननिर्मात्री सभा स्थायी नहीं होती।

(ब) विधान निर्मात्री सभा को स्वतंत्र रूप से परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। वह केवल वही परिवर्तन कर सकती है जो कालान्तर में जनता को स्वीकृत हो।

4. सम्प्रभुता का निवास मण्डल में :

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार सम्प्रभुता का निवास राज्य के विधान-मण्डल में है। विधान मण्डल कानून का निर्माता है तथा न्यायपालिका एवं कार्य-पालिका विधान मण्डल के आदेशों का पालन करती है। इसको स्वीकार करने में निम्न आधारभूत तथ्य रुकावट डालते हैं :

(अ) विधान मण्डल ही एकमात्र कानूनों का निर्माता नहीं है, उसकी असीमित शक्तियां हैं। निर्वाचन, जनमत, धार्मिक अधिकार तथा संविधान आदि में विधान मण्डल की शक्तियां विभाजित हैं।

(ब) संघात्मक संविधानों के विषय में यह सिद्धान्त पूरा नहीं उतरता जो कि लिखित, कठोर तथा अनमनीय है। संघात्मक संविधान में शक्ति वितरण तथा शक्ति विभाजन के कारण विधान मण्डल की शक्तियाँ सरकार के अन्य उपकरणों के अधिकारों द्वारा सीमित रहती है।

5. सम्प्रभुता का निवास राज्य में विधि निर्माण करने वाली समस्त संस्थाओं के योग में है :

गैटिल राजा में विधि निर्माण करने वाली संस्थाओं को निम्न प्रकार विभा-जित करते हैं।[30]

(क) प्रतिनिधात्मक व्यवस्थापिकायें —राष्ट्रीय, राजकीय तथा स्थानीय।

(ख) न्यायालय—जब कानून निर्माण करते हैं।

---

30. रामलखन सिंह, राजनीति शास्त्र मूल के सिद्धान्त, पृ० 327-328।

(ग) कार्यपालिका—जब वह अध्यादेश जारी करती हो जिनका महत्व कानून के समकक्ष है।

(घ) निर्वाचन मण्डल—जब वे जनमत रेफरेन्डम तथा प्रारम्भक द्वारा अपनी शक्ति का प्रयोग करते हों।

(च) सम्मेलन तथा सभायें—जब वे संविधान को बदलते हैं।

विद्वानों द्वारा इस समस्त संस्थाओं के योग में सम्प्रभुता निवास करती है। जो कानून निर्माण में सहयोग देती है। यह सिद्धान्त उपर्युक्त चारों सिद्धान्तों का एक प्रकार से समिश्रण ही है। यह राजा को सम्प्रभु मानता है। राज्य की सम्प्रभुता सरकार द्वारा प्रकट की जाती है। सरकार के विभिन्न अंग इसका प्रयोग करते हैं। इन अंगों की शक्तियां अनुरूप नहीं होती। संविधान द्वारा वे कम अथवा अधिक की जा सकती है। इस सिद्धान्त में लोग सम्प्रभुता, कानून प्रभुसत्ता तथा राजनैतिक प्रभुसत्ता आदि को स्थान दिया गया है।

अध्याय 3

वैदिक युग में सम्प्रभुता

यह बात निर्विवाद है कि प्राचीन काल में आर्यों ने विश्व के विभिन्न भागों में विस्तृत होते हुए अपनी संस्कृति का प्रचार व प्रसार उन्मुक्त होकर किया। न केवल एशिया महाद्वीप बल्कि यूरोप द्वीप के सांस्कृति विकास में आर्यों का योगदान का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। वेदों में इसी आर्य संस्कृति का सर्वप्रथम उद्धृत हाना पाया गया है। भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण प्रेरणा वेद से ही प्राप्त होती है। भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, विद्या एवं राजनीति की जड़ें वेद से ही पाई जाती हैं।[1] आर्यों ने वेदों को अनादि, अपौरूषेय ओर ईश्वरकृत माना है। शतपथ ब्राह्मण[2] में एक प्रसंग में आया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का महान-भूत अर्थात् परमेश्वर का निःश्वासित है। आर्य चिन्तकों के अनुसार यह अर्थात ज्ञान वेद ही है, जो ईश्वरकृत ह और जिनका प्रकाश ईश्वर द्वारा सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, वायु और आदित्य नामक ऋषियों द्वारा किया गया। आधुनिक विद्वान इस मत से सहमत प्रतीत नहीं होते हैं। वे वेदों को मनुष्यकृत मानते हैं। जिसके प्रमाण में वह यह तथ्य प्रस्तुत करते हैं कि वेदों के प्रत्येक सूक्त व ऋचा के साथ उसके ऋषि और देवताओं के नाम दिये गये हैं। उन्ही ऋषियों द्वारा इन सुक्तों एवं मन्त्रों की रचना हुई है। इसी सन्दर्भ में वे विद्वान जो कि वेदों को ईश्वरकृत मानते हैं अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि वैदिक ऋषि सूक्तों के रचियता न होकर 'दृष्टा' मात्र थे।

तिथिक्रम :

वैदिक साहित्य का जो ऐतिहासिक स्वरूप आज हमारे समक्ष हैं उस परिप्रेक्ष्य में संहिता-भाग प्राचीनतम है, ब्राह्मण, उपनिषद आदि बाद में रचे गये। विद्वानों के अनुसार यह एकमत से स्वीकार किया जाया है कि ऋग्वेद संहिता सर्वप्राचीन है और यजु, साम और अथर्व संहिताओं का निर्माण उसके बाद में हुआ। इसलिये जब वैदिक युग के काल को निर्धारित करने की बात पैदा होती

---

1. डा. शिवदत्त ज्ञानी—वेदकालीन समाज, पृ० 28।
2. शतपथ ब्राह्मण--14/5/4/10।

है, तब ऋग्वेद को ध्यान में रखकर विचार किया जाता है। वैदिक युग से अभिप्राय: उस ससय से है जिस समय में लोग वेदों की शिक्षा के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे।

वैदिक काल का समय निर्धारण स्वयं में एक कठिन समस्या रहा है। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रमाणों को आधार मानते हुए जो विचार प्रकट किये हैं, वे निम्नत: हैं :

मैक्सूमलर के अनुसार—-उपनिषदों में बौद्ध भूमिका पाई जाती है। छान्दोग्य ब वृहदारण्यक उपनिषदों में अहिंसा के सिद्धान्त पर अधिक बल है तथा यज्ञ को नैतिकता के नये सिरे से एक सूत्र में बांधने का प्रयोग किया गया है। ये बातें इस ओर संकेत करती प्रतीत होती हैं कि बौद्ध काल के कुछ समय पूर्व ही प्राचीन उपनिषद बने होंगे। ब्राह्मण ग्रन्थ उपनिषदों के पूर्व के हैं। मैक्सूमलर ब्राह्मण-ग्रन्थों का समय आठवीं ई. पू. शताब्दी में निश्चित करते हैं और उसके दो सौ वर्ष अर्थात् ई. पू. 1000 के आस पास वे यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद का समय बताते है। इसी प्रकार वे ऋग्वेद का समय भी ई. पू. 1200 निर्धारित करते हैं। मैक्सूमलर ने वेद, ब्राह्मण व उपनिषद आदि प्रत्येक के विकास के लिये दो सौ वर्ष निर्धारित किये है व बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के एक शताब्दी पूर्व प्राचीन उपनिषदों का काल मानकर दो-दो सौ वर्ष पहले ब्राह्मण संहिता आदि काल का निर्धारित करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। मैक्सूमलर ने स्वयं ही यह भी स्वीकार किया है कि उनका सिद्धान्त किसी निश्चित काल को निर्धारित करने में असफल रहा है, परन्तु कम से कम उतने वर्ष पुराना तो वह साहित्य होना ही चाहिये।[3] लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और विद्वान जैकस्बी ने भी इस सम्बन्ध में अपने मत का प्रतिपादन किया है।[4] इन्होंने ज्योतिषशास्त्र की मदद से ऋग्वेद का समय 4500 वर्ष के लगभग निर्धारित किया है। परन्तु इस मत को अधिकांश विद्वानों द्वारा मान्यता न मिलने पर इस मत को स्वीकार नहीं किया जाता है, क्योंकि जिन मन्त्रों पर यह सिद्धान्त आधारित है उन मन्त्रों के अर्थ के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है।

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान विन्टरनीत्ज[5] ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुये कहा कि मैक्सूमलर का मत न्यायसंगत नहीं है। ऋग्वेद ई. पू. 1200 से

---

3. विन्टरनीत्ज "हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर" पृ० 304, 305
4. विन्टरनीत्ज, पूर्वोक्त, पृ. 294-299।
5. विन्टरनीत्ज, पूर्वोक्त, पृ० 300-301।

बहुत पहले का होना चाहिये। विन्टरनीत्ज भारत के बाहर वैदिक सस्कृति के चिन्हों के आधार पर ऋग्वेद का काल ई. पू. 3000 वर्ष के लगभग निर्धारित करते है।

डा. सदाशिव राव अल्तेकर ने प्राचीन राजाओं की वंशावलियों के आधार पर महाभारत युद्ध का समय ई. पू. 950 के लगभग निर्धारित किया है।[6] और इस्वाकु तथा पौरव वंश की स्थापना महाभारत युद्ध के 15 वर्ष पूर्व मान कर वैदिक युग का समय ई. पू. 2000 या 2100 वर्ष निर्धारित किया है।

सत्यकेतु विद्यालंकार ने वैदिक युग का समय निर्धारित करते हुए विस्तार से लिखा है कि जिस प्रकार वैदिक संहिताओं में प्राचीन आर्यों की धार्मिक अनुश्रुति संगृहीत है, वैसे ही पुराणों में राजनीतिक अनुश्रुति को संकलित किया गया है। अयोध्या, विदेह, पौरव, काशी कामरूप आदि आर्य राज्यों के राजाओं की वंशावलियां पुराणों में दी गई हैं जिनका प्रारम्भ मनु से हुआ है। इन वंशावलियों में अयोध्या के सूर्यवंश राजाओं की वंशवलि सबसे पूर्ण है। उसमें मनु से लगाकर वृहदबल तक 94 राजाओं के नाम दिये गये हैं ———— पर प्रश्न यह है कि वैवस्वत मनु से शुरू कर शान्तुन तक का जो यह वैदिक युग है, तिथि क्रम की दृष्टि से उसके लिये कौन सा समय निर्धारित करना होगा। शान्तुन कौरव-पाण्डवों के पितामह थे, अतः उनका समय महाभारत युद्ध से दो पीढ़ी (पचास वर्ष के लगभग) पूर्व होना चाहिये। अब प्रश्न यह उठता है कि महाभारत यूद्ध का समय कौन-सा था। यह विषय अत्यन्त विवादग्रस्त है। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार यह युद्ध ईस्वी सन् से 3000 वर्ष के लगभग पहले लड़ा गया था। पर आधुनिक विद्वान प्रायः इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मत में महाभारत का काल 1000 ई. पू. के लगभग था। कतिपय विद्वानों ने इस युद्ध के काल को 1500 ई. पू. के लगभग प्रतिपादित किया है ———— वैदिक युग को महाभारत युद्ध से 94 पीढ़ी पूर्व प्रारम्भ मानना उचित होगा। राजाओं के शासन काल को औसतन 20 वर्ष के लगभग स्वीकार किया जाता है। यदि वैवस्वत मनु से राजा शान्तनु तक 92 पीढियां मान ली जायें, जैसा कि पुराणों कि वंशावलियों से सूचित्त होता है और एक पीढ़ी के शासनकाल को 20 वर्ष समझा जाय, तो वैदिक युग का कुल समय 1800 या 2000 वर्ष के लगभग मानना होगा।[7]

---

6. इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, 22वां अधिवेशन, अध्यक्षीय भाषण, पृ० 12-14।
7. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारत इतिहास का वैदिक युग, पृ० 18 व 20।

वायु पुराण के प्रसंगों के आधार पर वैदिक साहित्य को अन्तिम स्वरूप ई. पू. 1100 वर्ष के करीब दिया गया। किन्तु वैदिक मन्त्रों का निर्माण इसके बहुत पहले प्रारम्भ हो गया था। वेद मन्त्रों का आलोचनात्मक अध्ययन यह बताता है कि नये मन्त्रों का सृजन हो रहा था व पुराने मन्त्रों में सुधार किया जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि वेद मन्त्रों के सृजन का कार्य ई. पू. 2000 वर्ष के लगभग प्रारम्भ हुआ व अन्तिम संकलन वेद व्यास द्वारा ई. पू. 1100 वर्ष के लगभग किया गया। इस प्रकार उपरोक्त मतों को देखते हुए ऐसा ज्ञान पड़ता है कि वैदिक युग का समय ई. पू. 2000 व ई. पू. 1100 के मध्य रहा होगा।

वैदिककालीन राज्य का स्वरूप :

मानव समाज के उत्थान में राज्य का योगदान सर्वोपरि माना गया है। मानवों के संघ को राज्य कहा जाता है। विद्वानों ने प्राचीन भारत में राज्य के सात तत्वों को स्वीकार किया है। इसी आधार पर प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के प्रमुख प्रणेताओं ने सप्तात्मक अथवा सात प्रकृति युक्त राज्य मानकर उसे सप्तात्मक अथवा सप्तांग वा सप्तप्रकृति युक्त राज्य के नाम से सम्बोधित किया है।[8] राज्य के सात तत्व मानव धर्मशास्त्र के अनुसार निम्न है: राजा अथवा स्वामी अथवा आत्मा, मन्त्री या अमात्य, कोश, राष्ट्र अथवा देश या जनपद, सेना अथवा बल, दुर्ग अथवा पुर और मित्र अथवा सुहृद।[9] राज्य के निम्न तत्वों में से एक अथवा अधिक की अनुपस्थिति में राज्य का अस्तित्व नहीं रह पाता है। इसलिए राज्य के अस्तित्व को यथावत् बनाये रखने के लिए सभी तत्वों का संयुक्त होना अनिवार्य है।

वैदिक साहित्य में राज्य की उत्पति के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेखित प्रथम सिद्धान्त ईश्वर प्रदत्त सत्ता का है।[10] जिसमें राजा को प्रजापति के नाम से पुकारा गया है और 'चक्रवर्तिन' शब्द के चक्र का विष्णु के चक्र से सम्बन्ध बताया गया है। इसी सन्दर्भ में ऐतरेय ब्राह्मण में भी राज्याभिषेक के सन्दर्भ में अग्नि, गायत्री, स्वस्ति, बृहस्पति आदि देवताओं से राजा के शरीर में प्रवेश करने की प्रार्थना को दर्शाया गया है।[11] इन

8. श्यामलाल पाण्डेय, वेदकालीन राज्यव्यवस्था, पृ० 52।
9. मानव धर्मशास्त्र, 248/9।
10. शतपथ ब्राह्मण, 5/15/14।
11. ऐतरेय ब्राह्मण, 1/14/23।

उल्लेखों द्वारा कहा जा सकता है कि राजा को परमात्मा का अंश स्वीकारा जाता था। जनता को शासन में रखने हेतु परमात्मा द्वारा मनुष्य रूप धारण किया जाता था। अनेक विद्वानों ने आर्यों के शासन को सूत्रपात का आधार परिवार माना है। उनके अनुसार, पितृ-प्रधान परिवार होने के कारण पिता परिवार का सर्व प्रमुख व्यक्ति होता था। धीरे-धीरे समाज का विकास हुआ। पारिवारिक परम्परा के अनुसार राजकीय शासन का भी विकास हुआ। इसका आधार वे अथर्ववेद में उल्लिखित मन्त्रों को मानते हैं।[12] जिसमें प्रयुक्त शब्द विशः जन और विशपति आदि पितृ-प्रधान अथवा विकासवादी सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते जान पड़ते हैं। तीसरा संविदा सिद्धान्त ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्य की उत्पति के बारे में अस्पष्ट-सा संकेत करता मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[13] में एक स्थान पर यह विवरण आया हैं कि असुरों के विरुद्ध युद्ध के सफल संचालन हेतु देवताओं को राजा निर्वाचन करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसी विचार को अभिषेक समारोह के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण में निम्नतः स्पष्ट किया गया है—प्रजापति की अध्यक्षता में देवताओं ने आपस में विचार विमर्श किया कि इन्द्र उन सब में सर्वाधिक पूर्ण, सुदृढ़, क्रियाशील और प्रत्येक कार्य को करने में श्रेष्ठतम है। अतः उन्होंने उसे अपना राजा बनाने का निर्णय किया। तत्पश्चात् इन्द्र का अभिषेक किया।[14] उपरोक्त विवरण स्पष्ट करता है कि निर्वाचन में आम सहमति अपना अलग अस्तित्व कायम रखे हुए थी। आर० ए० शर्मा ने अपनी पुस्तक में इस विवरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'देवों के समाज में निर्वाचन को प्रारम्भिक वैदिक जन-प्रधान समाज में प्रचलित प्रथा की प्रतिच्छाया, समझा जा सकता है, क्योंकि अभिषेक समारोह इस बात के सूचक हैं कि उत्तर वैदिक काल तक आनुवांशिक आधार पर राजतन्त्र का सिद्धान्त सुदृढ़ रूप में स्थापित हो चुका था। ऐसा कहा जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विख्यात सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का किसी सीमा तक पूर्वाभास मिलता है।[15]

डा० एच० एन० सिन्हा ने वैदिक राज्यों के सम्बन्ध में निम्नतः विचार प्रस्तुत किये हैं—'प्रारम्भ में आर्यों का संगठन जनों के रूप में था। छोटे-छोटे जन मिलकर अनार्यों से युद्ध करते थे और ऐसे विजेता जन आपस में मिल जाया

---

12. अथर्ववेद, 8/10/1-3।
13. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1/5/9।
14. ऐतरेय ब्राह्मण, 8/12/7।
15. आर. एस. शर्मा, एस्पेंस्त आफ पौलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एनशियन्ट इण्डिया, पृ० 48।

करते थे। उत्तर वैदिक काल में पुरु जन और भारत जन में मेल हो गया, यद्यपि वे पहले प्रतिद्वन्दी थे और दोनों जन आगे चलकर कुरु जन में मिल गये। समय बीतने के साथ ये जन पृथक अथवा संयुक्त रूप में गांवों में बस गये और खेती करने लगे तथा अन्य उद्योग करने लगे। जिस भूखण्ड पर वे बसे उसके प्रति उनमें प्रेम की भावना उत्पन्न हुई होगी। उस भावना से, जिसे प्रतिरक्षा व आक्रमण की आवश्यकताओं ने सुदृढ़ बनाया होगा, राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई होगी। इस प्रकार आर्यों में प्रथम अथवा प्रारम्भिक राज्य की उत्पति हुई होगी। जिसे उन्होंने राष्ट्र का नाम दिया। यद्यपि राष्ट्र का नाम किसी जन से सम्बद्ध रहा, किन्तु उस में केवल एक ही जन के व्यक्ति न रहे होंगे, अर्थात् राष्ट्र एकरस जनसमूह न था। परन्तु राष्ट्र का उदय तभी सम्भव हुआ जबकि जनीय संगठन क्षीण पड़ा और जनसमूह ग्रामों में स्थायी रूप से निवास करने लगा। सम्भवत: राष्ट्र ग्रामों का ही विकसित रूप रहा होगा।[16]

राधाकुमुद मुकर्जी अपनी पुस्तक हिन्दू सभ्यता में लिखते हैं कि देश या राज्य के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया गया। इसी प्रकार अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि राष्ट्र राज्य का मूलाधार है क्योंकि राज्य की सब प्रकृतियों में सबसे पहले राष्ट्र ही उत्पन्न हुआ था। उसके बाद बल की उत्पति हुई। अथर्ववेद में आता है कि कल्याण की कामना करते हुए ऋषियों ने दीक्षा स्वीकार की और तप किया, जिससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुये।[17] आर्य राष्ट्र के अभ्युदय के लिए अपना सर्वस्व देने को तैयार रहते थे। आर्यों की प्रबल अभिलाषा थी कि बरुण राष्ट्र को अविचल करे, वृहस्पति राष्ट्र को स्थिर करे, इन्द्र राष्ट्र को सुदृढ़ करे और अग्नि देवता राष्ट्र को निश्चल रूप से धारण करे। आर्यों की एक मात्र कामना यह थी 'हमारे राष्ट्र में क्षत्रिय वीर, धनुर्धर लक्ष्यवेधी और महारथी हों और उनकी उत्कण्ठा भी अपने राष्ट्र में नेता बनकर हम जागरणशील रहें। आर्य प्रजा राजा से बार-बार यही प्रार्थना करती थी कि जो विपक्षी हैं जो हमारे हिंसक शत्रु हैं, जो सेना लेकर हमारे राष्ट्र में युद्ध करने को आते हैं और जो हमसे द्वेष करते हैं, राजन उन्हें अभिभूत करे।[18]

वैदिक काल में राज्य प्रमुख रूप से एक ही प्रकार के थे जिनका शासन राजतन्त्री था। डा० एच० एन सिन्हा के अनुसार भारत के आर्यों का समाज जैसा कि ऋग्वेद में वर्णित है पितृ प्रधान था। अत: राष्ट्र का शासन राजतन्त्री

16. एच. एन. सिन्हा, दि डवलैपमैंट आफ इण्डियन पालिटी, पृ० 22।
17. राधा मुन्द मखर्जी, (अनु. वासदेव शरण अग्रवाल) हिन्दू सभ्यता, पृ. 43।
18. पूर्वोक्त, पृ० 323-24।

था।[19] परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में आठ प्रकार के शासनों विधानों का उल्लेख प्राप्त होता है तथा उसमें उनके शासकों की पदवियों और जिन प्रदेशों में वे राज्य करते थे उनका उल्लेख है। जैसाकि निम्न तालिका द्वारा डा० परमात्माशरण ने दर्शाया है।[20]

	शासन विधान	शासक पदवी	प्रदेश-निर्देश
1.	साम्राज्य	सम्राट	पूर्व
2.	भोज्य	भोज	दक्षिण
3.	स्वराज्य	स्वराट्	पश्चिम
4.	वैराज्य	विराट्	उत्तर (मुद्रकुरु)
5.	राज्य	राट	कुरु-पांचाल
6.	पारमेष्ठय		कुरु-पांचाल
7.	महाराज्य		से उत्तर की
8.	आधिपत्य		ओर

यद्यपि वैदिक काल में प्रचलित शासन पद्धति राजतन्त्री थी, फिर भी लेखकों के मतानुसार उस काल के अन्त से पूर्व गणतन्त्री शासन भी कुछ भागों में स्थापित हो गये थे। ड्रेकमीयर के अनुसार सम्पूर्ण भारत राजतन्त्री न था आधुनिक दिल्ली (और पूर्व व दक्षिण) तथा गंगा (मध्य प्रदेश) के क्षेत्रों में राजतन्त्री संस्थायें थीं।[21] ऐतरेय ब्राह्मण ऐसा संकेत करता है कि उत्तरी भारत के महत्वपूर्ण भाग में गणतन्त्री था। काशी प्रसाद जायसवाल हिन्दू पालिटी में लिखते हैं कि 'भारत में गणतन्त्री पद्धति राजतन्त्र के बहुत बाद और पूर्व वैदिक काल के बाद आई। इसका उल्लेख उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में मिलता है। ऋग्वेद के ब्राह्मण ऐतरेय में यजुर्वेद में और उसके ब्राह्मण तैतिरीय में।[22]

वेदों में राजनैतिक संगठन :

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में राजनैतिक संगठन का विकास क्रमिक रूप से सम्पन्न हुआ। तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था

---

19. डा. एच. एन. सिन्हा, पूर्वोक्त, पृ० 3।
20. डा. परमात्माशरण, पूर्वोक्त, पृ० 73-74।
21. पूर्वोक्त, पृ० 74।
22. के. पी. जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ० 21।

की इकाई ग्राम था, जिसका अधिकारी ग्रामणी कहा जाता था। कई परिवारों से कुल एवं कई कुलों से ग्राम का निर्माण हुआ। ग्रामों के समूह से 'विश' का निर्माण हुआ जिसका मुखिया विशपति कहलाता था। अनेक विशों को मिलाकर जन का निर्माण होता था। जन से समस्त राष्ट्र के नागरिकों का बोध होता था, जन प्रमुख राजा कहलाता था।

ग्राम :

ग्राम अनेक परिवारों के संगठन का नाम था। कतिपय विद्वानों के मतानुसार परिवारों के छोटे-छोटे समूह भी थे जो गोत्र या गोष्ठि कहलाते थे। गोत्र का अभिप्राय उस परिसर से था जिसमें गायों को सुरक्षित रूप से रखा जाता था। कदाचित कुछ परिवार मिलकर अपना एक गोत्र रखते थे। इस प्रकार से वे एक गोत्र से सम्बन्धित समझे जाते थे। गोत्र के संरक्षक को गोत्रपति कहा जाता था।[23] ग्राम का मुखिया ग्रामणी कहलाता था।[24] ग्राम के राजनैतिक व्यवस्था का प्रमुख ग्रामणी था। प्रारम्भ में सम्भवतः यह पद चुनाव द्वारा हस्तगत किया जाता था, परन्तु बाद में यह पद वंश क्रमागत बन गया था। नागरिकों के अधिकार सैनिकों के उत्तरदायित्व सम्बन्धित कार्यों में वह ग्राम का मुखिया था।[25] ग्राम के वासियों को संगठित रखना उसकी रक्षा करना तथा ग्राम में शांति बनाये रखना उसके प्रमुख कार्य थे। प्रत्येक काम पूर्णतः आत्म निर्भर था। ग्रामणी की सहायक भूमिका निभाने के लिए ग्राम सभा उपस्थित रहती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामणी का चुनाव भी ग्राम सभा द्वारा किया जाता था। राजा ग्रामणी के माध्यम से ग्राम से अपना सम्पर्क स्थापित करता था। परन्तु ग्राम की व्यवस्था में साधारणतः हस्तक्षेप नहीं करता था। शिवदत्त ज्ञानी ग्राम की व्यवस्था के बारे लिखते हैं कि प्राचीन भारत में विकेन्द्रीयकरण शासन व्यवस्था का मूल मन्त्र था। इसी सिद्धान्त के अनुसार ग्राम की शासन व्यवस्था का उत्तरदायित्व ग्राम सभा व ग्रामणी पर ही था।[26] कुछ विद्वानों के अनुसार ग्रामणी का राजा से जो सम्बन्ध रहता था उससे ज्ञात होता है कि उसकी नियुक्ति राजा द्वारा होती थी। या कदाचित यह पद वंशक्रमागत भी रहा हो।[27]

---

23. ए. सी. दास, ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० 109।
24. ऋग्वेद, 10/62/11, 10/107/5।
25. मैकडानेल व कीथ, वैदिक इन्डेक्स भाग 1, पृ० 247।
26. डा. शिवदत्त ज्ञानी, वेदकालीन समाज, पृ० 183।
27. मैकडानेल व कीथ, पूर्वोक्त, पृ० 247।

विश :

कई ग्रामों को मिलाकर विश का निर्माण होता था। विश शब्द वैदिक साहित्य में जन साधारण के लिए प्रयुक्त हुआ है। कतिपय विद्वानों द्वारा ग्रामों के समूह के अर्थ में भी इसका प्रयोग माना है। विश के सर्वोच्च अधिकारी को विशपति कहा जाता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर आया है 'अत्रा वो विशपतिः पिता पुराणां अनु वेनति'[28] इस प्रकार यम को विशपति व पिता कहकर पुरों का संरक्षक माना गया है। पुर वैदिक युग में ग्रामों की रक्षा के लिए या तो किले थे या चार दिवारी, जिनकी रक्षा की व्यवस्था करना ग्रामों के शासनाधिकारियों का आवश्यकीय कार्य था। वैदिक युग के पश्चात 'विशापति' राजा के अर्थ में प्रयुक्त होता था। विशपति के अधिकार भी ग्रामणियों के अधिकारों के समान रहते होंगे। उसका मुख्य कर्तव्य विश के अन्तर्गत ग्रामों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित व सुरक्षित रखना था।[29]

जन :

कई विशों को मिलाकर एक जन का निर्माण होता था। राजा जन का सर्वोच्च व्यक्ति था। कदाचित् वंश क्रमागत ही राजा बनाया जाता था अथवा चुनाव होता था। राजपद का उल्लेख वैदिक साहित्य में जहाँ तहां पाया गया है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर वरुण को राजा कहा गया है।

'उरुं हि राजा वरुणश्चकार'[30]
'अवैन राजा वरुण ससुज्य—।।[31]

ऋग्वेद का उद्द्रण देते हुए डा० शिवदत्त ज्ञानी लिखते हैं, जिस प्रकार नैतिक जगत में वरुण की सर्वोपरि सत्ता थी वही नैतिक नियमों का नियामक था, उसके गुप्तचर सर्वत्र वर्तमान थे, जिनकी दृष्टि से कोई बच नहीं सकता था, उसके बन्धन (पाश) पापी व अत्याचारियों के लिए सर्वथा शक्तिशाली थे। ठीक उसी प्रकार भौतिक व राजनीतिक जगत में राजा का हाल था। राजा के आधीन जन जिस देश विदेश में रहते थे वह जनपद कहलाता था।[32] जिन राज्यों अथवा राष्ट्रों पर जिन पर राजा का आधिपत्य रहा था ऋग्वेद में उल्लेख आता है कि जिनके

---

28. ऋग्वेद, 10/135/1
29. डा. शिवदत्त ज्ञानी, पूर्वोक्त, पृ० 184।
30. ऋग्वेद, 1/24/8।
31. ऋग्वेद, 1/24/13।
32. डा. शिवदत्त ज्ञानी, पूर्वोक्त पृ० 184।

आधार पर यह कहा जा सकता है कि समस्त देश विभिन्न राज्यों या राष्ट्रों में विभाजित था।

सभा एवं समिति :

वैदिक काल के राजनीतिक जीवन में सभा एवं समिति का एक प्रमुख स्थान है। इसकी प्रामाणिकता को सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। इसी सन्दर्भ में शामाशास्त्री ने लिखा है, 'स्मृति से भी पूर्व काल से आर्य जाति ने अपने सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक प्रश्नों को सभा में तय करने के लिए स्वाभाविक अथवा जन्मजात इच्छा प्रदर्शित की प्रतीत होती है। जिस प्रकार ग्रीक लोगों में आरकोपेगस था, रोमन लोगों में क्यूरिया थी और एग्लो-सैक्सन लोगों में वितान थी, ठीक उसी प्रकार भारत के आर्यों में समा और समिति थी। सभा के लिये अन्य नाम जनता और परिषद भी थे।[33]

प्राय: ऐसा माना जाता है कि वैदिक काल में राजतन्त्रीय शासन प्रणाली का प्रादुर्भाव था, किन्तु राजा के सहयोग के लिये सभा एवं समिति जैसी लोकप्रिय संस्थायें उस समय के शासन के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में जानी जाती थी।

शेन्डे के अनुसार अथवर्वेद में सभा के लिए दूसरा शब्द संसद प्रयुक्त हुआ है। और उसके सदस्य सभासद कहे गये हैं। साधारणतया सभा और समिति का उल्लेख साथ-साथ किया गया है। सम्भवत: समिति उन सभी जनों की सभा थी जो युद्ध के लिये एकत्रित होते थे। एक स्थल पर उनके सापेक्ष महत्व का अभिरुचिपूर्ण वर्णन मिलता है। व्रात्य विश: की ओर चला उसके पीछे सभा (विद्वानों का समूह) चली, उसके बाद समिति (जनता की साधारण सभा), उसके बाद सेना (समिति में एकत्रित व्यक्तियों से बनी), उसके बाद सुरा (सेना के लिये मदिरा)।[34]

डा० सदाशिव राव अल्तेकर सभा एवं समिति के सन्दर्भ में इस प्रकार लिखते हैं, वैदिक वांग्मय में तीन प्रकार की सभायें मिलती हैं, 'वैदथ' 'सभा', और 'समिति'। इन शब्दों का ठीक अर्थ निश्चित करना कठिन है। सम्भव है कि देशकाल के अनुसार इनके अर्थ में वैदिक युग में भी परिवर्तन हुआ हो। आधुनिक विद्वान भी इस विषय में एकमत नहीं हैं। लुडविग का मत है कि 'सभा' में पुरोहित, धनिक आदि उच्चवर्ग के लोग सम्मिलित होते थे और 'समिति' में साधारण लोग रहते थे। ज़िभर का अनुमान है कि 'सभा' ग्राम संस्था थी और

---

33. आर० शमाशास्त्री, इवोल्यूयेशन आफ इण्डिया पालिटी, पृ० 75।
34. परमात्माशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार, पृ० 389।

'समिति' पूरे जन की केन्द्रिय परिषद थी। हिलेब्रांड का मत है कि सभा और समिति एक ही थी, 'सभा' उस स्थान का नाम था जहां लोग एकत्र होते थे और 'समिति' एकत्रित लोगों को कहते थे। — — —अथवर्वेद के उद्दरण में सभा और समिति दो बहने अर्थात् दो अलग-अलग संस्थायें कही गई हैं— — — इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'सभा' 'समिति' के अधिवेशन का स्थान नहीं बल्कि अलग संस्था थी।[35]

सभा और समिति की रचना एवं उनकी कार्यप्रणाली में अन्तर को डा० विमल चन्द्र पाण्डेय ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है —'सबसे अधिक उपयुक्त मत झिमर महोदय का प्रतीत होता है जिसके अनुसार 'सभा' ग्राम सभा कहीं गई है और समिति केन्द्रीय संस्था। अथर्ववेद में एक स्थान पर पहले सभा का फिर समिति का और सबसे बाद में मंत्रणा (परिषद) का उल्लेख हुआ है। यह क्रम देश के वैधानिक विकास की ओर संकेत करता है। विकास की प्रारम्भिक स्थिति में प्रत्येक ग्राम प्राय: स्वतन्त्र रूप से अपना पृथक-पृथक प्रबन्ध करता था। सर्व साधारण विषयों को तय करने के लिये ग्रामवासियों ने अपनी-अपनी एक प्रबंध-कारिणी संस्था बना ली थी जो 'सभा' के नाम से प्रख्यात हुई। कालान्तर में जब राज्यों की स्थापना हुई और प्रत्येक राजा के अन्तर्गत अनेक ग्राम आ गये तो सार्वजनिक विषयों की देखभाल करने के लिए एक केन्द्रीय प्रशासनिक संस्था की स्थापना हुई जो समिति कहलाई। परन्तु राजा को अपने दैनिक प्रशासन में बहुधा परामर्श की आवश्यकता पड़ती थी। इसके लिये सदैव समिति के अधिवेशन नहीं बुलाये जा सकते थे। अतः राजा ने दैनिक परामर्श के लिये कुछ मन्त्रियों को नियुक्त करना आरम्भ किया। यह मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रिपरिषद छोटा होता था और राजा किसी समय भी प्रशासन सम्बन्धी विषय पर इसकी सम्मति ले सकता था। अथर्ववेद के उपयुक्त ग्रन्थ में कदाचित इसी क्रमिक वैधानिक विकास का संकेत किया गया है।[36]

सभा :

सभा आर्यों की राष्ट्रीय संस्था थी। अथर्ववेद में सभा को प्रजापति की दुहिता कहकर सम्बोधित किया गया है। इस प्रसंग से स्पष्ट है कि सभा वैदिक आर्यों की अति पुरातन संस्था थी जिसका प्रादुर्भाव सृष्टि रचना के साथ ही

---

35. अ० स० अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 101।
36. विमलचन्द्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृति इतिहास, पृ० 108।

आदि काल में हुआ था। सभा की उत्पति बिराट् पुरुष से बतायी गई है[37] इसी प्रकार अथर्ववेद में एक स्थल पर व्रात्य अथवा आदि पुरुष से सभा की उत्पति बतायी है।

ऋग्वेद में एक स्थल पर सभा के शाब्दिक अर्थ को शासित अथवा प्रकाशित होना बताया है।[38] इस कारण सभा का तात्पर्य तेजस्वी अथवा विशिष्ट पुरुषों के एकत्र होने का स्थान है। इसके प्रतीत होता है कि सभा वैदिक जनों की वह संस्था थी, जिसमें सामान्य पुरुषों को उसकी सदस्यता का अधिकार तब तक प्राप्त न होता था जब तक वे इसकी सदस्यता के लिये बांछित गुण स्वयं में पैदा न कर ले! इस सम्बन्ध में रामचन्द्र दीक्षितार लिखते हैं, मौलिक सभा के सदस्यों के सदस्य कुलीन ब्राह्मण और माघवान होते थे। तत्कालीन समाज से जो कि स्वरूप में जनात्मक था, यह आशा करना कि उसमें प्रजातन्त्रात्मक प्रधानता हो उचित नहीं। ऋग्वेद की संहिता में 'सुजाता' अर्थात् 'अच्छे वंश वाले' शब्द आया है, जिससे इस कथन का समर्थन होता है। अस्तु सभा वृद्धों की परिषद थी और प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की भांति मुख्यत: एक न्यायिक निकाय थी। वृद्ध ऐसे उच्च चरित्र और विद्वता के व्यक्ति होते थे कि सभी समुदाय उनका आदर करता था। यद्यपि सभा के कार्य संचालन के सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता, फिर भी यह सच है कि सभा के अधिवेशन पर 'सभापति' प्रधान रहता था और 'सभापाल' उसकी रक्षा करता था। मौलिक सभा एक न्यायालय रूप थी, जिसमें राजा मुकदमे सुनता था और उनके निर्णय देता था। यह बात सभासद (सभा में बैठने वाले) और समाचार (सभा में जाने वाले) शब्दों से स्पष्ट होती है। वैदिक सभा का स्वरूप वैधानिक तथा न्यायिक अधिक था।[39]

वेदों में सभा के अध्यक्ष की ओर भी संकेत किया है। यजुर्वेद में सभा के अध्यक्ष को सभापति की संज्ञा दी गई है। यजुर्वेद में सभापति का उल्लेख जिस प्रकार से किया गया है उससे दृष्टिगत होता है कि इस पद को विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। इस वेद में जहां राज्य के अन्य पदाधिकारियों के प्रति सम्मान-प्रदर्शन हेतु व्यवस्था दी गई है वही सभा के सभापति के प्रति भी उसी रूप में विशेष सम्मान प्रदर्शित करने के निमित्त आदेश दिया है।[40] परन्तु सभापति की नियुक्ति के सन्दर्भ में वेदों में कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसी

37. अथवर्वेद, 8/10/8।
38. ऋग्वेद, 3/167/1।
39. वी. आर. आर. दीक्षितार, पूर्वोक्त, पृ० 152-154।
40. यजुर्वेद, 24/16।

प्रकार सभापति के विशेष कर्तव्य एवं अधिकार क्या थे, इस विषय में भी प्रामाणिक आधार पर कुछ नहीं कहा जा सकता।

कुछ स्थलों पर वैदिक साहित्य में यह संकेत मिलता है कि वैदिक सभा का प्रधान कार्य धर्म-निर्णय था। कर्तव्य भ्रष्ट एवं धर्मच्युत को कितना और किस प्रकार का दण्ड मिलना चाहिये यह सभा का प्रमुख कार्य था। यजुर्वेद में एक स्थल पर ऐसा प्रसंग आया है कि सभा के सदस्य दूसरों का अधिकार हनन करने वालों के विरुद्ध निर्णय देते थे।[41] बन्धोपाध्याय ने सभा, राज्य तथा राजा के सम्बन्धों को इस प्रकार व्यक्त किया है, 'सभा के सदस्य प्रतिष्ठित अथवा धनिक व्यक्ति होते थे। राजा और सभा के बीच भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। विभिन्न प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थानीय सभाओं के अतिरिक्त एक श्रेष्ठ सभा राजनीतिक सभा भी थी जिसका सम्बन्ध राजा से था : राजा सभा के सदस्यों के परामर्श के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता था। जबकि सभा राजा के लिये परामर्शदात्री निकाय थी, इसके अन्य कार्य भी थे। वह न्यायिक सभा के रूप में कार्य करती थी।[42]

अथवर्वेद के एक मन्त्र में सभा के सदस्यों को सभ्य और सभासद नाम से सम्बोधित किया गया है।[43] डा० श्यामलाल पाण्डेय इसी सन्दर्भ में लिखते हैं—इस संकेत से यह अनुमान होता है कि सभा के सभी सदस्य सामान्यतया सभासद कहलाते थे। परन्तु कुछ सभासद ऐसे भी होते थे, जिनमें सामान्य सभासदों की अपेक्षा कतिपय विशेष योग्यता एवं गुण होते थे। उनकी विशेषता के कारण उन्हें कुछ विशेष कार्य सौंप दिये जाते थे, जिनका विधिवत् सम्पादन करना उनका कर्तव्य समझा जाता था। उनका यह विशेष कार्य न्याय संबन्धी था। इस श्रेणी के सभासदों को सभ्य की उपाधि से विभूषित किया जाता था— न्यायक्षेत्र में वे सक्रिय योगदान करते थे।—ऐसा ज्ञात होता है इन सभ्य न्यायालयों का विकास वैदिक सभा की इसी उपसमिति से हुआ। शुक्रनीति के रचनाकाल तक सभ्य न्यायालय अपने चरम विकास प्राप्त हो चुके थे, लोक में उनकी विशेष प्रतिष्ठा एवं महत्त्व था। मानव धर्मशास्त्र के रचनाकाल में भी सभ्यन्यायालय महत्वपूर्ण एवं सम्मानित न्यायिक संस्थायें समझी जाती थी।[44]

---

41. यजुर्वेद, 17-20।
42. एन० सी० बान्धोपाध्याय, डवलपमेन्ट आफ हिन्दू पालिटी एण्ड पालिटिकल थ्योरीज, पृ० 112-14।
43. अथवर्वेद, 5-15-19।
44. श्यामलाल पाण्डेय, वेदकालीन राज्य व्यवस्था, पृ० 156।

इस प्रकार सभा वेदकाल की महत्वपूर्ण संस्था थी जो कि धर्म से लेकर राजनीति और राजनीति से लेकर न्याय तक आर्यो का मार्गदर्शन करती थी और ये सब महत्वपूर्ण कार्य करती हुई उनके जीवन के विकास में समुचित योगदान देती थी।

समिति :

वैदिक दर्शन के एवं अथवर्वेद के मन्त्र के अनुसार विराट् पुरुष द्वारा समिति का जन्म हुआ।[45] ऋग्वेद से भी पता चलता है कि ऋग्वेदीय ऋषियों ने अपने समय की महत्वपूर्ण एवं सक्रिय उपयोगी संस्था 'समिति' को बताया है।[46] उनके अनुसार उनके समय में समिति अपने उन्नति के शिखर पर थी और वह जन कल्याण-कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाया करती थी। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक समिति आर्यों की पुरातन संस्था थी। डा० के० पी० जायसवाल ने समिति के सन्दर्भ में लिखा है कि वेदों के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीनकाल में आर्य जाति के राष्ट्रीय जीवन और गतिविधि की अभिव्यक्ति जन-संस्थाओं के द्वारा होती थी। हमारे पूर्वजों की इस प्रकार की सबसे महान संस्था 'समिति' थी। समिति, सम+इति का अर्थ है एकत्र होना। अर्थात् सभा। समिति सम्पूर्ण जनता (विशः) की राष्ट्रीय सभा थी, क्योंकि हमें समिति का सम्पूर्ण जनता एक दूसरे के विकल्प रूप में राजा का निर्वाचन और पुनः निर्वाचन करते मिलते हैं। समिति में सभी जनता को उपस्थित माना जाता था।[47] वैदिक काल में प्रत्येक राजनीतिज्ञ विद्वान की यह आकांक्षा थी कि समिति उसकी योग्यता को स्वीकार करे। राजा भी समिति में शामिल हुआ करता था।

'परिसघाव पशुमान्ति होता राजा न सत्यः समिति रियानः।[48] ऋग्वेद में ही एक स्थल पर समिति के लिए आया है। 'इसमें राष्ट्र की सम्पूर्ण प्रजा का प्रतिनिधित्व था। इसके सूत्वरथकार और अन्य शिल्पी भी उपस्थित होते थे। समिति के अध्यक्ष को ईशान् कहा जाता था। यह आवश्यक समझा जाता था कि सभा और समिति के सदस्य परस्पर सहयोग से कार्य करें तथा उनके मत

---

45. अथवर्वेद, 10-10-8।
46. ऋग्वेद, 6-17-10, 6-92-9।
47. के० पी० जायसवाल, पूर्वोक्त, पृ० 12-17।
48. ऋग्वेद, 9-92-6।

एक हो। उनके विचारविमर्श एक हों और वे एक ही मन्त्र का निर्धारण करे:।[49]

समिति में राजा की उपस्थिति एवं समिति की राजनैतिक स्थिति को डा० के० पी० जायसवाल ने काफी स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं कि समिति में राजा के उपस्थित होने की प्रथा तभी तक जारी रही जब तक समिति का अस्तित्व बना रहा। छान्दोग्य उपनिषद में, जो सबसे बाद का वैदिक ग्रन्थ है, श्वेतकेतु अरुणेय गौतम के समिति में जाने का वर्णन है। समिति के महत्व का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि अथर्वेद और ऋग्वेद दोनों में ही इस प्रकार की प्रार्थना मिलती है कि राज्य की नीति समान हो और समिति समान हो, इतना ही नहीं समान उद्देश्य हों और समान मन भी। इससे संकेत मिलता है कि समिति में राज्य सम्बन्धी मामलों पर विचार होता था। समिति का सबसे महत्वपूर्ण कार्य राजा का निर्वाचन तथा निष्कासित राजा का पुनर्निवाचन करना था। इस प्रकार संवैधानिक दृष्टि से समिति अथवा उसके सदस्य एक प्रभुत्वपूर्ण निकाय था।[50]

समिति का एक अध्यक्ष होता था। समिति के अध्यक्ष को सम्भवतः समितिपति कहा जाता था। इसी समितिपति की अध्यक्षता में बैठकें हुआ करती थी। अथवर्वेद के एक मन्त्र में समिति के सदस्य को सामित्य कह कर भी पुकारा गया है।[51] जिससे स्पष्ट होता है कि समिति का सदस्य सामित्य कहलाता था।

वैदिक संहिताओं में इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि वैदिक आर्य एकत्र होकर अपने राजा का निर्वाचन करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य अपनी समिति के रूप में एकत्र होकर ही यह कार्य सम्पन्न करते होंगे। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद दोनों में इस कथन की पुष्टि का आशय मिलता है 'हे भावी राजन' आर्य जनता तेरी कामना करती है। वह अचल है, तू भी सर्वप्रकार से दृढ़ होकर राजपद पर प्रतिष्ठित हो जा। तू राष्ट्र से भ्रष्ट न हो।[52] अथवर्वेद में स्पष्ट संकेत किया गया है कि आर्य जनता राजा का वरण करती है।[53] वेदों में उल्लेखित इन सन्दर्भों से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि वैदिक आर्यों का एक प्रधान कार्य राजा का वरण करना भी था।

---

49. ऋग्वेद, 10-191-2-4।
50. के० पी० जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ० 12-14।
51. ऋग्वेद, 1-171-10।
52. अथवर्वेद, 1-87-6।
53. श्यामलाल पाण्डेय, वेदकालीन राजव्यवस्था, पृ० 153।

प्राचीन भारत के राजनैतिक प्रशासन में समिति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। समिति राजनैतिक जीवन में इतनी ज्यादा महत्वपूर्ण और प्रभावशाली थी कि समिति के बिना राजा की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। राजा के लिये समिति का वही महत्व था जो सोमरस के लिये घड़े का और पुरोहित के लिए यजमान का था। यह कहना भी अतर्कसंगम न होगा कि समिति वह आधार स्तम्भ था जिसके बिना राजशक्ति के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती थी।

डा० श्यामलाल पाण्डेय ने समिति के महत्व का उल्लेख निम्न शब्दों में किया है, 'इस प्रकार की राष्ट्रवासियों के लिये नूतन राजा का वरण करना अनुपयुक्त एवं आयोग्य राजा को राजपद से भ्रष्ट कर उसे निष्कासित करना, निष्कासित राजा को राजपद हेतु आमन्त्रित कर राजपद पर उसकी पुनः स्थापना करना, राज्य की नीति का निर्धारण करना, राष्ट्रवासियों के कल्याण हेतु प्रस्तुत की गयी योजनाओं पर विवेचनात्मक प्रणाली से विचार कर उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करना आदि कार्य समिति के क्षेत्र के अन्तर्गत समझे जाते थे।[54]

इस प्रकार उपरोक्त प्रामाणिक आधारों के अनुसार यह स्पष्ट स्वीकार किया जा सकता है कि सभा एवं समिति का न केवल वैदिक युग में अस्तित्व था वरन वे चहुंमुखी उन्नति के शिखर पर विराजमान राष्ट्र के राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने में सत्त् प्रयत्नशील थी।

सम्प्रभुता की अवधारणा :

किसी भी राज्य की शासन प्रणाली को सुचारु रूप से चलाने के लिये दो प्रकार की शासन प्रणाली ही प्रमुख रूप से प्रयोग में लायी जाती है। प्रथम राजतन्त्र, द्वितीय प्रजातन्त्र। किसी भी राज्य की सम्प्रभुता को आंकने अथवा समझने के लिए प्रमुख रूप से उसकी शासन पद्धति को परखना अनिवार्यतः प्रथम कार्य बन जाता है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से बहुत कुछ ऐसा स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के राजनैतिक जीवन में राजतन्त्र का महत्वपूर्ण स्थान था। जिनका शासन अनिवार्यतः राजाओं द्वारा किया जाता था। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर राजतन्त्र से सम्बन्धित कितने ही पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है। राजा, राज्य आदि शब्दों का अनेक स्थलों में उल्लेख है। इसके

---

54. श्यामलाल पाण्डेय, वेदकालीन राज्यव्यवस्था, पृ० 153।

अतिरिक्त वैदिक वांग्मय द्वारा कितने ही राजाओं तथा राजवंशों का भी उल्लेख आता है। इन उल्लेखों से भी राजतन्त्र का महत्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वैदिक समय में राजतन्त्र था, तो उस राजा की स्थिति राज्य में क्या थी और वह सम्प्रभु था अथवा नहीं और सम्प्रभुता का क्या स्वरूप था। इन सब प्रश्नों का उत्तर राजा की राज्य में स्थिति क्या थी इसी के गर्भ में छिपा है सर्वप्रथम इसी विषय में विचार करेंगे।

राजा की नियुक्ति के सन्दर्भ में वैदिक युग में सामान्यतः यह प्रचलित था कि राजा का ही पुत्र पिता की मृत्यु के पश्चात राजा के पद पर सुशोभित होता था। परन्तु यह आवश्यक था कि प्रजा राजा का वरण करे। इस सन्दर्भ में ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं कि अगर राजा का पुत्र इस योग्य न हो तो प्रजा राजवंश के किसी अन्य व्यक्ति का या कुलीन परिवार के किसी व्यक्ति को राजा के पद के लिए वरण कर लेती थी। अथर्ववेद में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता हैं कि प्रजा द्वारा स्वीकृत होने पर ही राजा की नियुक्ति होती थी।

> 'त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमः प्रदिशः पंचदेवीः।
> वर्ष्मं न राष्ट्रस्यं ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रा विभजा वसूनि ।।

अर्थात् प्रजा राज्य के लिये तुम्हें वरण करती है। सब दिशाओं के लोग तुम्हारा वरण करते हैं, तुम राष्ट्र रूपी शासक के समान सब में सम्पति का विभाजन करो।[55] वैदिक काल में राजा का निर्वाचन होता था, इस मत का समर्थन डा० के० पी० जायसवाल ने भी किया है, वे लिखते हैं—'राजा का निर्वाचन समिति में एकत्रित जनों द्वारा होता था। ऐसा कहा जाता है कि एकत्रित जन राजा को एक मत से चुनते थे। समिति उसकी नियुक्ति करती थी। उससे राज्य को धारण करने के लिये कहा जाता है। उससे शत्रुओं का दमन करने की आशा प्रकट की जाती है।[56] डा० शिवदत्त ज्ञानी वैदिक युग के राजा के निर्वाचन के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हैं कि 'वैदिक युग में राज संस्था सांस्कृतिक व दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विकसित हुई थी। साधारणतया राजा वंश-क्रमागत रहा करते थे, किन्तु वैदिक साहित्य में उनके निर्वाचन का भी उल्लेख आता है। इस सम्बन्ध में मेक्डानेल, ज़िम्भर, गेल्डनर तथा वेवर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने स्पष्टतया कहा है कि वैदिक युग का राजा साधारणतया

---

55. अथर्ववेद, 3-4-2।
56. के० पी० जायसवाल, पूर्वोक्त, पृ० 186।

वंशक्रमागत था, किन्तु वह निरंकुश नहीं था। उसकी सत्ता समिति में दर्शाई गई। जनता की इच्छा द्वारा नियन्त्रित रहती थी। वैदिक युग में सभा-समिति आदि द्वारा प्रजा राजा पर नियन्त्रण रखती थी।[57]

वैदकालीन प्रजा जिस राजा का निर्वाचन करती थी उससे यह आशा करती थी कि वह धुव्ररूप से राष्ट्र का शासन करे। उसे किसी निश्चित अवधि के लिये निर्वाचित नहीं किया जाता था। वेदों में इस प्रकार के प्रसंग भी आये हैं जिनसे पता चलता है कि राजा कोपदच्युत अथवा निर्वासित भी किया जाता था। अथवर्वेद में ऐसे मन्त्र भी आये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि पदच्युत अथवा राज्य भ्रष्ट राजा को उसके पद पर पुनः आसीन करने के निमित्त प्रार्थना की गई है— 'राज्यभ्रष्ट हे राजन्।' राजा वरुण तुझें जल से, सोम पर्वतों से और इन्द्र तुझे प्रजाजनों से बुलाये जिनमें तू निवास कर रहा है। इस प्रकार तू उन देवताओं के बुलाने पर अपनी पूर्वपालित प्रजा में प्रधव्य होकर श्येन की गति से शीघ्र आ जा।[58]

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में राजा का निर्वाचन होता था। अयोग्य और ऐसे राजपुत्रों को उत्तराधिकार से वंचित कर दिया जाता था, जिन्हें प्रजा नहीं चाहती थी अथवा जिन्हें प्रजा का व्यापक समर्थन प्राप्त न होता था। राजा अपने अभिषेक के समय प्रजा से एक प्रकार का इकरार सा करता था जिसके अनुसार वह स्वीकार करता था कि यदि मैं विशः (प्रजा) के प्रति द्रोह करूं तो मैं अपने जीवन अपने सुकृत (अच्छे कर्मों के फल), और अपनी सन्तान सबसे वंचित किया जाऊं।[59]

इस प्रकार जनता (विशः) द्वारा वरण अथवा निर्वाचित किये जाने पर और प्रजा के साथ एक इकरार करने के पश्चात जो राजा राष्ट्र का शासन करता था, और जिसे एक प्रकार का भय प्रजा की ओर से पदच्युत हो जाने का लगातार बना रहता वह राजा निश्चित रूप से स्वेच्छाचारी अथवा निरंकुश नहीं हो सकता था।

सभा और समिति नामक संस्थायें भी राजा की कार्य-प्रणाली में अधिकार रूप से सम्मिलित थी। प्रजा के प्रतिनिधि राजा के कार्यों में सभा और समिति के माध्यम से राजा की कार्यप्रणाली में हस्तक्षेप करते थे। अथवर्वेद के एक मन्त्र से स्पष्ट होता है कि राजा सभा और समिति पर कितना निर्भर करता था—

---

57. डा० शिवदत्त ज्ञानी, पूर्वोक्त, पृ० 207।
58. अथवर्वेद, 3-3-3।
59. एतरेय ब्राह्मण, 8-15।

'सभा च ना समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरां संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सगतेषुरा।

अर्थात् सभा और समिति प्रजापति की दुहितायें हैं वे मेरी रक्षा करें। वे मुझे उत्तम शिक्षा (समुचित परामर्श) दें सगत में एकत्र हुए 'पितर लोग समुचित भाषण करें।[60]

इसी प्रकार एक मन्त्र में और भी मिलता है—
'सभ्यं सभां में पहि ये च सभ्याः सभासद।

अर्थात् सभा मेरी रक्षा करे, उसके जो सभ्य सभासद हैं, वे मेरी रक्षा करें।[61]

इस प्रकार सभा और समिति का महत्व राजा के सन्दर्भ में अत्यधिक था। ऐसा प्रतीत होता है कि सभा और समिति के समक्ष राजा का स्थान गौण था और सभा और समिति के प्रतिनिधि जो कि प्रजा में से ही होते थे राष्ट्र की शासन प्रणाली में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।

उपरोक्त प्रामाणिक आधारों के अनुसार यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्रजा (विश) में सम्प्रभुता का वास था, किन्तु व्यावहारिक रूप में सम्प्रभुता प्रजा द्वारा राजा को सौंपी हुई निधि थी। प्रजा उसे पदच्युत भी कर सकती थी और पुनः सिंहासनरुढ़ भी कर सकती थी। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रभुता का वरण राजा प्रजा की इच्छानुसार ही करता था।

डा० श्यामलाल पाण्डेय लिखते हैं – वैदिक आर्य राज्यों में प्रभुता ब्रह्म में वास करती थी। इसलिये ब्रह्म वैध रूप में प्रभुता सम्पन्न समझा जाता था। वही राज्य का वैध अधिकारी था। ब्रह्म का प्रतीक ब्राह्मण था। इस प्रकार वैदिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार ब्राह्मण राज्य की प्रभुता थी।[62] मनुस्मृति में भी एक स्थल पर इस तरह का आभास होता है। इसमें लिखा है— इस जगत में जो कुछ विद्यमान है वह सब ब्राह्मण का है। ब्रह्मोत्पति रूप श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सब कुछ ग्रहण करने का अधिकारी है।[63] वेद भी हमें यही दर्शाते हैं कि वैध प्रभुता का वास ब्राह्मण में ही था। परन्तु राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए उन्होंने अपने अधिकार को क्षत्रियों को सौंप दिया

60. अथवर्वेद, 7-1-63।
61. अथवर्वेद, 19-55-6।
62. डा० श्यामलाल पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 69।
63. मनुस्मृति, 100-1।

था, और साथ ही साथ यह भी आदेशात्मक स्वर में कहा था कि वह यह पृथ्वी (राज्य) उसे इस शर्त के साथ दे रहा है कि वह प्रजा को भयमुक्त रखते हुए अच्छे शासन की स्थापना करेगा और अगर किसी अवस्था में वह अपने कर्तव्य पालन में लेश मात्र भी असावधानी दिखायेगा अथवा पथभ्रष्ठ होगा तो वह उससे राज्य छीन लेगा। अथर्ववेद में इसी प्रसंगवश आया है कि 'इस पृथ्वी का पति एक मात्र ब्राह्मण है। क्षत्रिय तथा वैश्य इसका अधिकारी अथवा स्वामी नहीं है।'[64] इससे ऐसा स्पष्टत: प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ने क्षत्रिय को पृथ्वी केवल सवांग विकास हेतु प्रदान की न कि उसे सम्प्रभु माना। अथर्ववेद में राजा को ब्राह्मणों का एक आदेशात्मक प्रसंग और उपलब्ध होता है जो इस दिशा में काफी प्रकाश डालता है : 'हे राजन्, ब्राह्मणों ने पृथ्वी तुझे इसका भोग करने के लिये नहीं दी है। ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त इस पृथ्वी (राज्य) पर हिंसा न करना।'[65]

उपरोक्त प्रामाणिक आधार यह स्पष्ट करते हैं कि राजा राज्य का वास्तविक सम्प्रभु नहीं था। राज्य का वैध सम्प्रभु ब्राह्मण था जिसने अपनी निधि (राज्य) को उसकी समुचित व्यवस्था और विकास के लिये राजा को सौंप दिया था। राजा अगर अपने कर्तव्यों के पालन में कहीं उपेक्षा का भाव दिखाता था तो राजपद से पदच्युत कर दिया जाता था। इस प्रकार ऐसा कहा जा सकता है कि वैदिक युग में ब्राह्मण सम्प्रभु अथवा प्रभुतासम्पन्न था। उसी में राज्य की प्रभुता का वास मानना चाहिये। यजुर्वेद में भी तथ्य की पुष्टि के लिये एक मन्त्र आया है जिसमें राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर एकत्रित जनसमूह को सम्बोधित करते हुए ब्राह्मण पुरोहित यह स्पष्ट रूप से उच्च स्वर में घोषणा करता हुआ कहता है कि 'यश क्षत्रिय प्रजा (विश:) का राजा हुआ। हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।'[66]

उपयुक्त आधारों पर यह दृष्टिगोचर होता है कि वैदिक युग में राजपद ब्रह्म नियन्त्रित था और ब्राह्मण के अत्यधिक प्रभाव के कारण राजा अपने कर्तव्यों का पालन समुचित ढंग से करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन व्यवस्था का निर्माण लोक-कल्याण की भावना को दृष्टिगत रखते हुए नियोजित ढंग से हुआ जिसका उद्देश्य मात्र यह था कि राजा स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश न हो और अपने अधिकारों एवं पद का दुरुपयोग न कर पाये। इसमें यह व्यवस्था भी की गई कि राज्य न तो राजा की सम्पति बन सके और न ही

---

64. अथर्ववेद, 9-1-5।
65. अथर्ववेद, 1-18-5।
66. यजुर्वेद, 40-9।

राजा राज्य को अपनी सम्पत्ति समझे। राज्य, राजा के पास निधि मात्र था जिसकी रक्षा सुव्यवस्था और विकास एवं वृद्धि करना उसका परम कर्तव्य रहे। इस सन्दर्भ में डा० श्यामलाल पाण्डेय ने लिखा है : 'ब्रह्म नियन्त्रित राजपद का सिद्धान्त वैदिक ऋषियों की विशेष एवं अनुपम योजना थी। इस सिद्धान्त के अनुसार वही क्षत्रिय राजपद पाने का अधिकारी था, जो इस योजना के अनुसार आचरण करने में समर्थ था।'[67]

ब्राह्मण की स्थिति उपरोक्त विवेचन से बहुत अधिक महत्वपूर्ण लगती है, लेकिन वह भी केवल महत्वपूर्ण मानी जा सकती है, परन्तु यह कहना कि ब्राह्मण के अधिकार असीमितता की सीमा को छूते थे न्यायसंगत सा प्रतीत नहीं होता। ब्राह्मण की स्थिति नियन्त्रित थी। उसे राजाज्ञा का उल्लंघन करने का अधिकार नहीं था। इस सन्दर्भ में भी डा० श्यामलाल पाण्डेय के विचार काफी महत्वर्ण है—'वैदिक राजपद ब्रह्म नियन्त्रित था। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि ब्राह्मण राजाज्ञा की अवहेलना करने का अधिकारी था, और इसलिये वह राजा द्वारा स्थापित प्रशासन व्यवस्था के बाहर था। ब्राह्मण उसी दशा में राजा की अवहेलना करने का अधिकारी था जब कि राजा उन प्रणों एवं प्रतिज्ञाओं को भंग करता हो जिनके अनुसार ब्राह्मण की निधि के रूप में राज्य उसे सौंपा गया था। अर्थात् वह निधि विरुद्ध शासन करना प्रारम्भ कर देता हो और इस प्रकार अपने पद का दुरुपयोग करता हो। ऐसी परिस्थिति के आ जाने पर ब्राह्मण अपने उस विशेषाधिकार के उपयोग करने का अधिकारी हो जाता था और अपने इस विशेषाधिकार का उपयोग कर विधिविरुद्ध शासन करने वाले राजा को पदच्युत कर देता था और उसके स्थान पर अन्य सुयोग्य क्षत्रिय का राज्याभिषेक कर उसे राजपद पर आसीन कर देता था। ब्राह्मण द्वारा किया गया यह कार्य सर्वाश में वैध समझा जाता था।'[68]

वैदिक युग में समाज चार वर्णों में विभाजित किया गया है। ब्राह्मण उक्त वर्ण का एक अभिन्न अंग माना जाता था। वैदिक युग के सामाजिक ढांचे में ब्राह्मण को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। जब वर्णों की उत्पति हुई उस समय मनुष्यों को कर्म के आधार पर ही वर्णों में विभाजित किया गया। इस मत को आधुनिक विद्वानों ने भी मान्यता दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण से अभिप्राय समाज के उस वर्ग से था जो बुद्धिमान और विवेकी था। किसी भी

67. डा. श्यामलाल पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 72।
68. डा. श्यामलाल पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृष्ठ 70-71।

देश के इतिहास को देखा जाय तो हमें यह बोध हो जायेगा कि बाह्य रूप से प्रभुसत्ता का निवास सम्पूर्ण प्रजा में तो निहित रहता है किन्तु प्रजा को दिशा देने का कार्य बुद्धिजीवियों द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। आधुनिक काल में फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति और अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम तथा भारत का स्वाधीनता आन्दोलन इसके प्रबल प्रमाण है। उपरोक्त विवरण यह मत प्रस्तुत करने का ठोस आधार है कि वैदिक युग में भी समाज के बुद्धिजीवियों को जब वर्ण विभाजन हुआ तो, ब्राह्मण की श्रेणी में रखा गया। ब्राह्मण प्रजा का अंग था। राजा को सत्तारुढ़ और पदच्युत कर देने का अधिकार प्राप्त था। (जैसा कि वेदों में वर्णित है) इस परिप्रेक्ष्य में आंकने पर स्थिति बहुत स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है कि वैदिक युग में सम्प्रभुता का वास जनता अथवा प्रजा में था और प्रजा अपने इस सम्प्रभुता के अधिकार को राजा को सौंप कर तथा उससे अपनी सुरक्षा का वचन लेकर सुव्यवस्थित ढंग से जीवन यापन करती थी।

अध्याय 4

प्राग् मौर्य काल में सम्प्रभुता

जिस समय उपनिषदों का विकास हो रहा था, लगभग उसी समय संस्कृत के दो महाकाव्य रामायण और महाभारत रचे गये। ऐसी मान्यता है कि इन महाकाव्यों की उत्पत्ति वीरगाथाओं से हुई जो चारणों द्वारा प्रायः धार्मिक अनुष्ठानों अथवा महाभोजों के अवसर पर राज दरबारों में गाये जाते थे। ये महाकाव्य हमारे धर्म के स्रोत और संस्कृति के प्राण हैं।[1] भारतीय इतिहास और भारतवासियों की दृष्टि में इन दोनों महाकाव्यों का वही महत्व है जो कि यूनान के इतिहास एवं यूनानियों के लिए उनके दो काव्य 'इलियस और ओडेसी' का है। अपितु यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि विषय की विविधता, भाषा-शैली और सामाजिक विवरणों के विस्तार के कारण ये दोनों महाकाव्य यूनानी महाकाव्यों से भी अधिक महत्वपूर्ण एवं रोचक है। डा० विमलचन्द्र पाण्डेय ने लिखा है, 'इन महाकाव्यों ने मानवीय जीवन के लिए जिन उदात्त सिद्धान्तों औ दृष्टान्तों को प्रस्तुत किया है उनके कारण ये भारतीय जीवन के प्रकाश स्तम्भ बन गये हैं। ऐतिहासिक ग्रन्थ होने के साथ-साथ ये भारतवर्ष के धार्मिक ग्रन्थ भी है।'[2]

रामायण महाभारत से अधिक प्राचीन प्रतीत होता है, चूंकि महाभारत में रामोपाख्यान मिलता है। उसमें रामायण के रचियता वालमीकि का नाम भी उपलब्ध होता है।[3] इसके विपरीत महाभारत के रचनाकार महर्षि व्यास का रामायण के किसी प्रसंग में उल्लेख नहीं मिलता है और न ही किसी पात्र की। रामायण में वर्णित तत्कालींन भारत की भौगोलिक सीमायें महाभारत का तुलना में काफी सीमित है। उपरोक्त दोनों तथ्यों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि रामायण महाभारत से अधिक प्राचीन है।

---

1. डा० विनोद चन्द्र सिन्हा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 47।
2. डा० विमल चन्द्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 205।
3. महाभारत, 7-14-3-66।

रामायण :

रामायण न केवल भारत का अपितु विश्वस्तर का असाधारण काव्य है। साथ ही यह हिन्दुओं के सर्वोच्च जीवन आदर्शों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है। विशेष अर्थ में यह भारत का सर्वोच्च प्रतिनिधि काव्य है। विन्टरनीत्ज के अनुसार यह सम्पूर्ण भारतीय जनता की सम्पति बन गई है और इसने शताब्दियों से एक बड़े राष्ट्र के विचारों तथा काव्य को प्रभावित किया। कवि ने काव्य में भारतीय जीवन के सम्पूर्ण विकास को प्रस्तुत किया है। काव्य के प्रतिनिधि स्वरूप का एक दूसरा पहलू कवि की भारत की एकता की दृष्टि है। उसे केवल भारत की भौगोलिक एकता का आभास न था वरन् सांस्कृतिक व राजनीतिक एकता का भी।[4]

वेदों की भांति रामायण के रचनाकार के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। रुढ़िवादी हिन्दुओं की मान्यता यह है कि रामायण त्रेता युग की रचना है। बहुत से विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि महाकाव्यों का रचनाकाल वैदिक युग तथा बुद्ध धर्म के समय के बीच का है। डा० विन्टरनीत्ज का मत है कि वालिमकि ने रामायण की रचना तीसरी शती ई० पू० में पुरातन लोकगीतों के कथानकों के आधार पर की गई है।[5] वेबर रामायण के रचनाकाल को बुद्ध-काल के पश्चात मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार बौद्ध परम्परा के ऊपर आधारित है। परन्तु उनके मत पर विश्वास करने लायक आधार प्रस्तुत नहीं है। रामायण के जिस सन्दर्भ को शायद उन्होंने आधार माना है वह निम्न है :

'यथा हि चोरस्वथा हि बुद्ध। तथागतं नास्तिकमत्र वृद्धि'॥[6]

महात्मा बुद्ध को चोर और नास्तिक बताने वाला यह प्रसंग निश्चित रूप से क्षेपक जान पड़ता है। रामायण न महात्मा बुद्ध से परिचित है न उनके जीवन की किसी घटना से न बुद्धकालीन अवस्था से। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में कौशल की राजधानी सदैव साकेत कही जाती है परन्तु रामायण इस नाम से पूर्णतः अनभिज्ञ मालूम पड़ती हैं। रामायण ने इस नगर को अयोध्या के नाम से इंगित किया गया है। इसके ठीक विपरीत दशरथ जातक में रामकथा का उल्लेख प्राप्त होता है। यह साक्ष्य यह मत प्रस्तुत करने के लिए बाध्य करते हैं कि रामायण का रचना काल बुद्ध-काल से पूर्व का है। डा० राधाकुमुद मुकर्जी

---

4. के० एस० रामास्वामी, स्टडीज इन रामायण, पृ० 8-10।
5. डा० विन्टरनीतज, हिस्ट्र आफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० 510।
6. रामायण, 1/109/34।

ने अपनी पुस्तक हिन्दू सभ्यता में लिखा है कि 'रामायण और महाभारत संज्ञक दो इतिहास ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप में सूत्र युग के हैं, यद्यपि उनकी सामग्री अत्यधिक प्राचीन है। रामायण की भौगोलिक पृष्ठभूमि उसे महाभारत से पहले का सिद्ध करती है। उसमें विन्ध्याचल के बहुत आगे का विस्तार नही है और दक्षिण की जगह दण्डकारण्य का उल्लेख है। पर महाभारत में सभी प्रदेशों का और उसके अनेक जनपदों का, जिनमें आर्य संस्कृति के फलते-फूलते केन्द्र थे, परिचय मिलता है।[7]

रामायण के रचनाकाल के सन्दर्भ में जैकोबी कहते हैं कि रामायण के मूल काण्ड पांच हैं तथा प्रथम एवं सप्तम काण्ड क्षेपक अर्थात् बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं। इसका आधार वह यह बताते हैं कि वालिमकी रामायण के द्वितीय से लेकर पंचम काण्ड तक राजा रामचन्द्र को केवल महान पुरुष की संज्ञा दी गई है परन्तु प्रथम एवं सप्तम काण्ड में उन्हें ईश्वर का अवतार माना गया है। बेबर की यह मान्यता है कि रामायण के मूल अंश की रचना 600 ई० पू० में हुई थी। परन्तु मैक्डानोल ऐसा मानते हैं कि रामायण के मूल-ग्रन्थ का रचनाकाल 500 ई० पू० का है। विन्टरनीत्ज के अनुसार रामायण का वर्तमान स्वरूप निश्चित रूप से 200 ई० तक बन गया।[8] डा० बेनी प्रसाद के विचार में महाकाव्य का प्रथम आरम्भ पांचवी शताब्दी ई० पू० में हो सकता है, परन्तु उसमें काफी बातें दूसरी शताब्दी ई० पू० अथवा उसके बाद भी जोड़ी गई प्रतीत होती है।[9]

रामायण में राज्य :

राज्य की उत्पति के सम्बन्ध में रामायण प्रायः मौन है। न ही राजा और राज्य का अन्तर स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। राजा और राज्य दोनों ही के महत्व को स्वीकार किया गया है और अराजक अथवा राज्य-हीन समाज के अवगुणों का वर्णन स्पष्ट रूप से किया गया है। रामायण में यह भी संकेत दिया गया है कि समाज में शान्ति ओर सुव्यवस्था की स्थापना के लिये शासन-शक्ति अथवा राजा का होना आवश्यक है। राम लक्षमण और सीता के वन जाने के पश्चात् राजा दशरथ शोक में मृत्यु को प्राप्त हुये। सम्पूर्ण रात्रि अयोध्या में

7. राधाकुमुद मुकर्जी (अनुवादक वासुदेव शरण अग्रवाल) हिन्दू सभ्यता, पृ० 138-39।
8. विन्टरनीत्ज, पूर्वोक्त, पृ० 503।
9. बेनी प्रसाद, दी स्टेट आफ एशशियन्ट इण्डिया, पृ० 104।

क्रन्दन चलता रहा और सब आनन्द जाते रहे। सुबह होने पर राज्य के विशिष्ट लोगों ने इकठ्ठा होकर सभा की और अन्तिम निश्चय के लिए राजपुरोहित वशिष्ट को सम्बोधित किया, 'पुत्र-शोक में राजा मृत्यु को प्राप्त हुये, राम और लक्षमण वन चले गये हैं और भरत और शत्रुघन नाना के घर गये हुये हैं। यहां इक्ष्वाकु वंश का आज ही कोई राजा बनाना चाहिये, नहीं तो बिना राजा के हमारा राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जायेगा, क्योंकि अराजकतापूर्ण राज्य में वृष्टि नहीं होती, राज्य में खेत अच्छी तरह नहीं बोये जाते, पिता के वंश में पुत्र और पति के वंश में पत्नी नहीं रहती और ऐसे राज्य में बंधक भी नहीं रहता।

अराजक राज्य के अवगुणों को दर्शाते हुए बतलाया गया है कि ऐसे राज्य में वर्षा नहीं होती, खेत अच्छी तरह बोये नहीं जा सकते, पुत्र पिता के वंश में और पत्नी पति के वश में नहीं रहती, धन-धान्य की समृद्धि नहीं होती लोग सभाओं का आयोजन नहीं करते, ब्राह्मण यज्ञ नहीं कर पाते, नट-नर्तक प्रसन्न नहीं रहते, राष्ट्र का अभ्यसदय करने वाले उत्सव तथा सम्मेलन सजीव नहीं रहते, सही न्यायिक निर्णय नहीं होते, लोग सुरक्षित होकर रात्रि को घरों के दरवाजे खोलकर नहीं सो सकते और व्यापारी विक्रय का सामान लेकर कुशलता पूर्वक यात्रायें नहीं कर सकते। अराजक स्थिति में सर्वत्र मत्स्य-न्याय हो जाता है और मछलियों की भांति मनुष्य एक दूसरे को खाते हैं। अराजक दशा का इस प्रकार विभिन्न पक्षों द्वारा चित्रित करके यह स्पष्ट करने का प्रयास है कि समाज की व्यवस्था, देश की सुख समृद्धि के लिये राज्य में एक राजा की आवश्यकता है। रामायण इस तथ्य की ओर संकेत करती मिलती है कि राजा ही शासन का दूसरा रूप है।

राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में रामायण ने राज्य को सप्तांगी माना है। वाल्मिकी ने राज्य के सात तत्व इस प्रकार बताये हैं :

1. राजा,
2. अमात्य,
3. जनपद,
4. कोष,
5. पुर,
6. दण्ड (सेना),
7. मित्र।

रामायण के एक स्थल पर श्रीराम गुह से कहते हैं, 'तुम सेना, कोष, दुग और जनपद के विषय में सदैव सावधान रहना, क्योंकि राज्य पालन अति दुष्कर

कार्य है।[10] इसी प्रकार एक स्थल पर हनुमान ने सुग्रीव के समक्ष निम्न विचार प्रकट किये हैं, 'जिसका कोष, जिसकी सेना, जिसके मित्र और जिसकी आत्मा में सब समान रहते हैं। वह महान राज्य को पाता है।[11]

रामायण में अनेक राजाओं का उल्लेख आया है। राज्यों में भी शक्तिशाली और निर्बल, बड़े-बड़े और छोटे-छोटे राज्यों का वर्णन आया है। कौशल जनपद जैसे शक्तिशाली तथा करद अथवा माणलिक राज्यों के बीच अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है। रामायण में राजा दशरथ को लगभग 300 राज्यों का स्वामी अथवा ये राज्य उनके आधिपत्य में थे ऐसा दर्शाया गया है। रामायण में राज्य धर्म पर आधारित बताये गये हैं। जो राज्य धर्म पर आधारित रहते थे वे सुख-समृद्धि और वैभव को प्राप्त होते हैं ओर जो राज्य धर्म पर आधारित नहीं हैं वे इन सब समृद्धि-सूचक विश्लेषणों के आस-पास भी नहीं आते। इस सन्दर्भ में के० एम० रामास्वामी शास्त्री ने लिखा है, 'बालिमकी ने भो धर्म पर आधारित कौशल राज्य तथा अधर्म पर आधारित लंका राज्य के बीच अन्तर स्पष्ट किया है। सुन्दर जीवन सुन्दर नगर में पवित्र जीवन पवित्र नगर में ही फलता फूलता है। अयोध्या आकार, जनसंख्या समृद्धि, शक्ति, पवित्रता और आध्यात्म सभी में महान नगर था। इसके विपरीत लंका युद्ध की लूट से भरा था, उसके निवासी भी लालची, जालिम सांसारिक सुखों व भोगों में लिप्त, पापी और संघर्षशील थे। उसमें ऐसी प्रत्येक वास्तु थी जो इन्द्रियों को उत्तेजित करे, परन्तु ऐसी कोई वस्तु न थी जो आध्यात्मिक जीवन को पैदा करे।[12]

रामायण में अनेक स्थलों पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से यह व्यक्त किया गया है कि धर्मपालन और सच्चरित्र कों बढ़ावा देना, प्रजा की आर्थिक स्थिति और कार्यों में वृद्धि तथा ज्ञान को संरक्षण एवं उसका संवर्धन करना राज्यों का प्रथम कर्तव्य अथवा उद्देश्य था। रामायण में यह भी स्पष्ट किया गया है कि इस प्रकार का राज्य केवल राम का था। राम तथा दशरथ ने उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये गम्भीर कदम भी उठाये। आज भी जिस आदर्श राज्य की कल्पना की जा सकती है उसके मूल में भी यह बात निहित होगी कि शासन यर्थार्थ रूप में ऐसा लोकोपकारक हो जिसमें रहने वाले प्राणी निरन्तर सुख और समृद्धि के मार्ग पर अपने कदमों को बढ़ाता हुआ देखे, सर्वत्र शान्ति और सुव्यवस्था हो तथा सदाचार और सज्जनता के मूल्य हों तथा उस राज्य के सभी व्यक्ति शुभ

---

10. अयोध्या काण्ड, सर्ग 35।
11. किष्किन्धा काण्ड।
12. के० एस० रामास्वामी, स्टडीज इन रामायण, पृ० 104।

लक्षणों से युक्त हों तथा शासकों का और राज्याधिकारियों का चरित्र ऐसा हो जो प्रजा के लिये अनुकरणीय बने। इस सन्दर्भ में हरिश्चन्द्र शर्मा ने लिखा है, 'रामायणकालीन राजनीति वास्तव में मैकियावलीय कुटील राजनीति नहीं थी बल्कि गांधी की राजनीति थी। यदि यह कहा जाय कि महात्मा गांधी ने इस कलियुग में रामायणकालीन धर्मवष्ठित राजनीति को पुर्नजीवित करना चाहा तो इसमें कोई अतिरंजना नहीं होगी।'[13]

रामायण में राजा :

रामायण में अनेक स्थलों पर राम को ईश्वर का अवतार माना गया है। अयोध्या काण्ड में सुमित्रा द्वारा, बालकाण्ड में परशुराम द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है सुन्दर काण्ड में तो हनुमान द्वारा राम को तीनों लोकों का स्वामी कहा गया है। राम को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया जाय अथवा नहीं परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि रामायण राम जैसे राजा के रूप में यह इंगित अवश्य करती है कि शासक को दैवी गुणों से सम्पन्न होना चाहिये अर्थात् उसमें साधुता, नैतिकता, शौर्यता, दयालुता और श्रेष्ठ शासन के गुणों से सम्पूर्ण होना चाहिये।

उपरोक्त विवरण यह स्पष्ट आभास दिलाता है कि रामायण काल में राजा का महत्व सर्वोपरि था। राजा के अभाव में तत्कालीन समय में राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। रामायण में राजा को दण्डधारक भी कहा गया है। राजा की नियुक्ति के सन्दर्भ में रामायण तीन सिद्धान्तों का संकेत करती है।

प्रथम ज्येष्ठता का, अर्थात् राजा का सबसे बड़ा पुत्र ही सिंहासन का अधिकारी होगा। इस सिद्धान्त को एक प्रकार का वंशानुगत सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। द्वितीय योग्यता का सिद्धान्त रामायण के अन्तर्गत उधृत होता है। इसे इस प्रकार कहा जा सकता हैं कि वह व्यक्ति राजपद के योग्य है जो कि चारित्रिक गुणों से सम्पूर्ण हो। तृतीय अनुमति सिद्धान्त कहा जा सकता है अर्थात् राजा की नियुक्ति प्रजा अथवा उसके प्रतिनिधियों की अनुमति पर आधारित हो। राम के राज्याभिषेक के प्रसंग में इन तीनों सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन है।

---

13. हरिश्चन्द्र शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृ० 60।

रामायण में अनेक स्थलों पर इस प्रकार के विवरण आये हैं जिनमें राजा के कर्तव्यों का आभास होता है। बालकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, अयोध्या काण्ड के बिभिन्न सर्गों के अन्तर्गत रामायण के प्रमुख पात्र परामर्श अथवा उपदेश के रूप में राजा के कर्तव्यों पर प्रकाश डालने में सफल रहे हैं। बालकाण्ड में विश्वामित्र ताड़का का वध करने के लिए राम को प्रेरित करते हैं कि, नरोत्तम, स्त्रीवध करने में घृणा मत करो, चातुर्वण्य के हित के लिये तुम्हें इसे मारना चाहिये। प्रजा की रक्षा में लगे रहने वाले राजा को चाहिये कि वह क्रूर समझे जाने वाले कार्य को प्रजा की रक्षा के लिये करे।[14] इसी प्रकार किष्किन्धा काण्ड में राम सुग्रीव को कहते हैं, जो व्यक्ति समयोचित धर्म, अर्थ, काम का विभाग करके निरन्तर उसका उपार्जन करता रहता है वह राजा है। परन्तु जो व्यक्ति धर्म एवं अर्थ को त्याग कर मात्र काम के निमित्त रहता है, वृक्ष की शाखा पर सोये हुए के समान गिर जाने वाला समझा जाता है। तथा जो राजा शत्रुओं के वध में तथा मित्रों के संग्रह में संलग्न रहता है वह धर्म, अर्थ, काम का भोग करने वाला बनकर धर्म से युक्त रहता है।[15]

युद्ध काण्ड में भी एक स्थल पर कुम्भकर्ण ने रावण को इस प्रकार का उपदेश दिया है, 'जो राजा काल के अनुसार धर्म, अर्थ, काम का पालन करता है वह जगत में आत्मवान कहलाता है और कभी कष्ट नहीं पाता है।'[16] इसी काण्ड में एक स्थल पर राम विभीषण को उपदेश देते दिखाई पड़ते हैं, 'जो राजा युद्ध में सैनिकों को कटवाता तो रहता है, परन्तु दान-मान आदि प्रदान करके उन्हें अपनी ओर आकर्षित नहीं करता, उसे सेना दुःखी होकर छोड़ देती है।[17]

इस प्रकार के राजा के कर्तव्य रामायणानुसार निम्न कहे जा सकते हैं कि राजा को धर्म का पालन करना चाहिए, सत्य की रक्षा, चातुर्वेर्ण्य के हित के लिए दुराचारिणी स्त्री तक का वध करने में घृणा न करे, हर प्रकार के अधर्म का नाश करने में समर्थ होना चाहिये, शत्रुओं के वध में तथा मित्रों के संग्रह में रुचि रखनी चाहिये, धर्म, अर्थ, काम का पालन करते हुये संसार में आत्मवान बने रहना चाहिये, विनम्र रहे, जितेन्द्रिय बने, काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले व्यसनों का त्याग करना चाहिये, धन-धान्य से परिपूर्ण कोषों और विविध

---

14. बालकाण्ड, सर्ग 10।
15. किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग 34।
16. युद्धकाण्ड, सर्ग 34।
17. युद्धकाण्ड, सर्ग 69।

प्रकार के आषुधगारों का स्वामी बनकर प्रजा का अनुरंजन करे, विद्वानों-सन्तों चरित्रवानों का आदर करना चाहिये, अनुशासित जीवन यापन करना चाहिये, व्यसनों और बुरी प्रवृतियों से दूर रहना चाहिये आदि।

राजा की सहायता अथवा राजकार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये जिन पदाधिकारियों का ज्ञान रामायण कराती है वे संख्या में निम्नवत् 18 हैं :

1. मन्त्री,
2. पुरोहित,
3. युवराज,
4. सेनापति,
5. द्वारपाल,
6. अन्तर्वेदिक,
7. कारागाराधिकारी,
8. द्रव्य संचयकृत,
9. कृत्यांकृषेतु चार्थानां विनियोजक,
10. प्रदेष्टा (न्यायाधीश),
11. नगराध्यक्ष,
12. कार्यनिर्माणकृत,
13. धर्माध्यक्ष,
14. सभाध्यक्ष,
15. दण्डपाल,
16. दुर्गपाल,
17. राष्ट्रान्तपालक,
18. अटवी पालक।[18]

रामायण में सम्प्रभुता की अवधारणा :

रामायण का सम्पूर्ण अवलोकन करने के पश्चात यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि तत्कालीन शासन का एक राजतन्त्री था। प्रजा सुखी और समृद्ध मानी जा सकती है। राजतन्त्रों में प्रशासन का अध्यक्ष राजा था जिसके परामर्श और राजकार्यों में सहायता प्रदान करने के लिए मन्त्री सभासद आदि थे। रामायण में सम्प्रभुता की क्या अवधारणा थी और वह कहां केन्द्रित थी इस तथ्य को ढूंढ़ने के लिये रामायण में बिखरे हुए अंशों को एकत्रित करके ही जाना जा सकता है।

18. अयोध्याकाण्ड, सर्ग 100।

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि तत्कालीन समय में राजा निरंकुश न था। चूंकि राज्य की हर गतिविधि उसी से केन्द्रित थी। इसलिये यह भी कहा जा सकता है कि अप्रत्यक्ष रूप से सम्प्रभुता उसी में निहित थी, परन्तु वह अपने मन्त्रियों, पुरोहितों आदि से परामर्श करने के पश्चात शपने राज्य को सुचारु रूप से चलाता था। रामायण राजा की निरंकुशता में विश्वास रखती प्रतीत नहीं होती चूंकि जहां आर्य राजा सभासदों के परामर्शसे काम चलाते थे वहां ही अनार्य राजा रावण किसी के सत्परामर्श की कोई परवाह नहीं करता था। उसका आचरण निरंकुश था।

रामायण में वर्णित कौशल में इक्ष्वाकु वंश का शासन था, और इसी वंश से सम्बन्धित लोग वंशानुगत रूप में वहां के सिंहासन पर आरूढ़ होते थे। जैसा कि इस प्रसंग से स्पष्ट है :

'विदित भवमेतयथा में राज्तमुत्तमम्।
पूर्वकर्मम राजेन्द्रः सुतवत्परिपीलितम् ।।[19]

इल वंश के राजा दशरथ जिनके पुत्र राम थे जब वृद्ध हो गये तो उन्हें उन्होंने युवराज बनाने का निश्चय किया। यहां पर आर्यों के राजाओं की स्थिति का पता चलता है। राजा दशरथ यदि चाहते तो स्वयं इस पद पर राम को अभिष्कित कर सकते थे। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। यहां पर वैदिक युग वाली स्थिति ही राजा की लगती है। राम को युवराज बनाने के लिए विशः अथवा जनता की स्वीकृति की आवश्यकता हुई और उन्होंने सर्वप्रथम अपने मन्त्रियों से इस सन्दर्भ में विचार विमर्श करने के पश्चात परिषद का अधिवेशन बुलाया :

'अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन्पर पुरादने।
ततः प्रविविशुः शेषा राजानां लोकसमताः ।।
अथः राजवितीणेषु विविधेश्वानेषु च।
राजानमेवाभ्मिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः ।।[20]

अर्थात् जब राजा दशरथ परिषद भवन में अपने स्थान पर बैठ गये तब लोकसम्मत राजाओं ने भवन में प्रवेश किया। जिस प्रकार वैदिक साहित्य में 'राजकृतः राजानः' आया ठीक उसी प्रकार रामायण में इस प्रसंग के अन्तर्गत 'लोकसम्मतः राजानः' का प्रयोग किया गया है। इन 'लोगों' की व्याख्या भी की गई है। इन लोगों के बारे में लिखा है कि 'धर्म और अर्थ को भली-भांति समझने

---

19. वा. रामायण, अयोध्याकाण्ड, 214।
20. अयोध्याकाण्ड, 1-46-47।

वाले राजा के अभिप्राय को भली भांति जानकर ब्राह्मणों, बलमुख्यों और पौर जनपदों ने विचार किया और भली भांति विचार-विमर्श करके वृद्ध राजा दशरथ से कहा 'ये वो लोग थे जिनके समक्ष दशरथ ने राम को युवराज बनाने का प्रस्ताव रखा था। इसी सन्दर्भ में अगला प्रसंग यह कि दशरथ के प्रस्ताव को परिषद ने स्वीकार कर अपनी सहमति दी।[21]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि रामायण काल में वंशानुगत शासन विद्यमान था, पर किसी भी व्यक्ति को राजा अथवा युवराज बनाने से पूर्व लोक सम्मत राजाओं की अनुमति लेनी आवश्यक थी। तथा एक परिषद सत्ता थी जिसमें पौर, जनपद, सेनानी और ब्राह्मण एकत्र होते थे। स्पष्ट है कि ये राज्य के प्रमुख व्यक्तियों में थे तथा जनता का प्रतिनिधित्व भी करते थे। सम्भवत: इन्हें इसी कारण लोकसम्मत कहा जाता था। इन परिषदों के सदस्यों का निर्वाचन होता था अथवा नहीं इस सन्दर्भ में रामायण प्राय: मौन है। सत्यकेतु विद्यालकार इनके बारे में लिखते हैं कि, 'सम्भवत: जनपद के अन्तर्गत विविध ग्रामों के ग्रामीण और पुर सभा के सदस्य (जिन्हें क्रमश: जनपद पौर कहा जाता था) प्रमुख ब्राह्मणों और सेनानायकों के साथ मिलकर राज्य की परिषद का निर्माण करते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में उस राजा को उत्तम बताया गया है, जिसकी परिषद अक्षुद्र हो और जो वृहदर्शी हो। इसमें सन्देह नहीं कि कौशल जैसे राज्यों में उत्तर वैदिक काल में ऐसी परिषदों की सत्ता अवश्य थी।[22]

डा. हरिश्चन्द्र ने भी इन सभा अथवा परिषदों के बारे में उल्लेख करते हुये कहा हैं, 'सभा अथवा परिषद महत्वपूर्ण निकाय था जिसे महत्वपूर्ण अवसरों पर नियन्त्रण के लिये आमन्त्रित किया जाता था, तथापि उसकी अनुपस्थिति में पुरोहित प्रधान बनता था। सभा में अमात्य, चारों वर्णों के प्रतिनिधि आदि सदस्य होते थे और यही सभा सजाओं का निर्वाचन करती थी तथा राजा की समस्याओं के समाधानार्थ परामर्श लेती थी।[23] के. पी. जायसवाल ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दू पालिटी' में इस सन्दर्भ में लिखा है, 'रामायण में जिन प्रतिनिधियों की व्याख्या की गई है वे राजधानी तथा अन्य नगरों के निवासियों में से होते थे। ये प्रतिष्ठित और विद्वान होते थे। उनमें नगरों की श्रेणियों और

---

21. अयोध्याकाण्ड, सर्ग 2।
22. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राज शास्त्र, पृ० 66।
23. डा० हरिश्चन्द्र, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृ० 62।

पौर जनपदों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। सभा को अधिक महत्वपूर्ण अवसरों पर ही मंत्रणा हेतु आमन्त्रित किया जाता था।[24]

उपरोक्त विवरण यह सिद्ध करने में कि रामायण काल में जनता में प्रतिनिधि शासन कार्यों में विशेष स्थान रखते थे और राजा निरंकुश न था पर्याप्त है। राजा की तत्कालीन समय में क्या स्थिति थी और प्रजा शासन में कहां तक हावी थी यह रामायण के इस प्रसंग से स्पष्ट होता है। कैकेयी द्वारा जब राम को वनवास देने की व्यवस्था की गई तो कौशल राज्य के वृद्ध प्रधान-मन्त्री सिद्धार्थ ने उसे समझाते हुए यह कहा :

'असमन्जोगृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान।
सरश्वां प्रक्षिपन्नसु रमते तेन दुर्मतिः ॥
तदृष्टवा नागरः सर्वे क्रुद्ध राजानवुवन।
असमन्जं वृणष्वैकमस्मान्वां राष्ट्रवर्धन ॥
तानुवाच ततो राजा किंन्निमितमिदं भयम्।
ताश्चापि राज्ञा सपृष्टा वाक्यं प्रकृतयोब्रूवन ॥
क्रीडातस्त्वेष नः पुत्रान् बालान् उदभ्रान्तयेतसः।
सरभ्यां प्रक्षि पन्मोख्यां दतुलां प्रीतिमश्नुते ॥
स तासां वचन श्रत्वां प्रकृतीनां नराधिपः।
तं तत्याजहितं पुत्र तासां प्रियचि कीर्षता ॥[25]

अर्थात् राजा सगर के एक पुत्र था, जिसका नाम असमन्जस था। वह मार्ग पर खेलते हुये बच्चों को पकड़ कर सरयू नदी में फेंक देता था और इस कृत्य से वह वहुत प्रसन्न होता था। इस बात की देखकर नगरवासी बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने राजा से कहा—हे राष्ट्र वर्धन या तो आप अकेले असमन्जुस को लेकर रहिये अथवा हम सवको रखिये। राजा ने पूछा तुम्हें किस कारण यह भय उत्पन्न हुआ? नगरवासियों ने उत्तर दिया—असमन्जस हमारे खेलते हुए अबोध बच्चों को सरयू में फेंककर परम प्रसन्नता अनुभव करता है। जनता के इस वचन को सुनकर राजा ने जनता का प्रिय बने रहने की इच्छा से अपने पुत्र का परित्याग कर दिया और उसे जीवन पर्यन्त देशनिकाल का दण्ड दिया।

उपरोक्त विवरण यह दर्शाता है कि राजा प्रजा का प्रिय बने रहने के प्रयोजन से अपने पुत्र का बहिष्कार करने में संकोच अनुभव नही करता था।

---

24. के० पी० जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ० 288।
25. अयोध्याकाण्ड, 27-15-19।

सगर की मृत्यु के बाद रामायण के अनुसार जनता ने सुधार्मिक अंशुमन्त का राजा के रूप में वरण किया।

रामायण के उपरोक्त उद्दरण यह स्पष्ट करते हैं कि राजा का सत्तारूढ़ होना जनता के प्रतिनिधियों की सहमति अथवा अनुमति पर आधारित था। तत्कालीन समय में राजा निरंकुश न था। सभा अथवा परिषदों का विशेष महत्व था तथा राजा जनता का प्रिय बनकर रहने के लिए कोई भी बलिदान करने में नहीं हिचकिचाता था। इन बातों से बहुत स्पष्ट है कि तत्कालीन समय में भी सम्प्रभुता का वास प्रजा में हो निहित था। वैदिक काल में जिस प्रकार सम्प्रभुता पूर्णरूप से जनता में निहित थी उस प्रकार रामायणकाल में जनता में सम्प्रभुता का वास होता था परन्तु पूर्णरूपेण नहीं कुछ आंशिक रूप से सम्प्रभुता राजा में भी निहित थी। चूंकि जिस प्रकार के उदाहरण राजा को पदच्युत करने के वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं उस प्रकार के उदाहरणों का रामायण में अभाव है।

डा. शामाशास्त्री लिखते हैं कि वाल्मीकि के काल में राजतन्त्र सीमित और संवैधानिक था। एक ओर वह धर्मशास्त्रों से सीमित था और दूसरी ओर मन्त्रीमण्डल व सभा की शक्तियों से। यदि राजा धर्मशास्त्रों के विरुद्ध कार्य करता था और अपनी प्रजा को सताता था तो उसे निष्कासित किया जा सकता था या मारा जा सकता था। राजा वेण को मारा गया, सगर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र असमन्जस को राज्य से निकाल दिया था। रावण ने भी हनुमान को नहीं मारा जब विभीषण ने उससे कहा कि दूत को मारना राजधर्म के विरुद्ध है। परन्तु साधारण रूप में रावण एक प्रकार का अधिनायक—डिक्टेटर था और सूर्यवंशी राजाओं की भांति न्यायी तथा संवैधानिक राजा भी न था।[26]

वाल्मीकि तथा तुलसी दोनों ने धर्म के अनुरूप चलने वाले तथा प्रजा का हित देखने वाले राजाओं को चहुमुखी विकास की ओर अग्रसरित किया है। इसके विपरीत निरंकुश राजा का नाश बताया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अस्पष्ट रूप से तुलसी और वाल्मीकि सम्प्रभुता से परिचित थे और वे उसे प्रजा में देखते थे परन्तु इसको वे स्पष्ट नहीं कर पाये। निरंकुशता को उन्होंने बुरा बताते हुए प्रजा के हित में कार्य करने वाले राजाओं तथा राज्य को वे चहुमुखी विकास की ओर अग्रसारित सम्भवतः इसी कारण कहते हैं।

महाभारत :

प्राचीन भारतीय शासन पद्धति और राजनीतिक विचारों के अध्ययन हेतु महाभारत एक महत्वपूर्ण स्रोत है। शान्तिपर्व में दण्डनीति (राजशास्त्र)

26. के० एस० रामास्वामी, पूर्वोक्त, पृ० 106।

राजधर्म (राजाओं के कर्तव्य), शासन पद्धति, मन्त्री और कर व्यवस्था के विषय में अनेक महत्वपूर्ण विचार मिलते हैं। सभा पर्व में सभा की रचना आपात-कालीन नीति और आदि पर्व में मैकयावली जैसे सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है।[27] महाभारत के विषय में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इण्डिया' में लिखा है महाकाव्य की दृष्टि से रामायण एक विशाल ग्रन्थ है तथा जनता को उससे अत्यधिक प्रेम है परन्तु महाभारत है जो वास्तव में दुनियां के सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों में से है। यह एक महान रचना है, परम्पराओं और गाथाओं का एक विशाल कोष है।

रामायण की भांति महाभारत के रचनाकाल के सन्दर्भ में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत हैं कि महाभारत का युद्ध 2000 ई० पू० और 1000 ई० पू० के बीच में हुआ था। इसके पश्चात ही इसकी घटनाओं के सम्बन्ध में गीतों का निर्माण किया गया होगा। कालान्तर में महर्षि व्यास ने इन्हीं चारणगीतों के आधार पर महाभारत को लेखबद्ध किया होगा। महाभारत का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र में आता है।[28] सांख्यान गृह्यसूत्र में भी महाभारत का उल्लेख आया है परन्तु इन गृह्यसूत्रों का रचनाकाल स्वयं में ही संदिग्ध है। इसलिये इनके आधार पर कैसे महाभारत का रचनाकाल निर्धारित किया जा सकता है। मैकडानल्ड महोदय महाभारत की रचना 500 ई० पू० मानते हैं।[29] विद्वान विन्टरनीत्ज महाभारत का रचनाकाल 400 ई० पू० मानते हैं।

मैकडानल्ड के मतानुसार मूल महाभारत में बीस हजार श्लोक थे। कालान्तर में इसमें प्रक्षेप जुड़ते-जुड़ते आज उसके श्लोकों की संख्या एक लाख तक पहुंच गई है। कुमारिल ने 700 ई० में महाभारत को एक महान स्मृति के रूप में उल्लेखित किया है।[30] इसी प्रकार बाण ने अपने ग्रन्थ 'हर्षचरित' में महाभारत को उत्तम काव्यकृति बताया है।[31] कम्बोडिया में प्राप्त लगभग 600 ई. का अभिलेख महाभारत का एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख करता है। इसके अतिरिक्त इसमें बौद्ध धर्म विषयक अनेक प्रसंग आये हैं। छठी और पांचवी शताब्दी के अनेक भारतीय अभिलेखों में महाभारत का उल्लेख होता

27. डा. परमात्माशरण, पूर्वोक्त, पृ० 113।
28. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 3-3-1।
29. मैकडानल्ड, पूर्वोक्त, पृ. 285।
30. व्यूलर, इण्डियन स्टडीज-2, एस. डब्ल्यू. ए. 1892, पृ. 5।
31. बाण, हर्षचरित, श्लोक 4-10 (प्रावकथन में)।

है।[32] ऐसे ही अनेक साहित्यिक तथा अभिलेख सम्बन्धी साक्ष्यों के आधार पर सर आ० जी० भण्डारकर ने यह सिद्ध किया था कि 500 ई० पू० तक महाभारत एक प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता था। वर्तमान रूप मे महाभारत में यूनानियों, शकों, पल्लवों आदि विदेशीय जातियों का वर्णन मिलता है। उसमें विष्ण और शिव की उपासना का उल्लेख है। अनेक स्थानों पर मन्दिरों और स्तूपों का वर्णन है। इन आधारों पर मैकडानलड महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला कि इस महाकाव्य का परिवर्तन 300 ई० पू० और 100 ई. पू. के बीच हुआ था। डा. राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार महाभारत पतंजलि के महाभाष्य (ई. पू. दूसरी शताब्दी) तक पूर्ण हो चुका था।[33]

महाभारत में राज्य :

महाभारत में राज्य की उत्पति के सम्वन्ध में विभिन्न तथा विरोधी सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। महर्षि व्यास ने महाभारत में ऐसे स्वर्णयुग की कल्पना की जिस प्रकार की लोक करते हैं—

'नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डोन दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजास्सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।[34]

उस समय न राज्य था और न राजा न दण्ड था और न दण्ड देने वाला। अपनी सहज धर्म भावना से ही सब मनुष्य सुख शान्ति और नीति के साथ रहते थे। परन्तु यह स्थिति सदैव न रही। कालान्तर में मनुष्य धर्म विमुख हो गया मत्स्य न्याय का बोलवाला हो गया। इस स्थिति से डर कर देवताओं ने ब्रह्मा की शरण ली। ब्रह्मा ने सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए एक नीतिशास्त्र की रचना की जिसमें धर्म, अर्थ और काम का विस्तार से वर्णन किया और कहा कि यदि इस युक्ति को दण्ड सहित प्रयोग किया जाय तो यह सभी प्राणियों के निग्रह में समर्थ होकर, पृथ्वी पर प्रचलित होगी। इसके पश्चात ब्रह्मा ने अपने मानस पुत्र विरजा को राजा बनाया तथा जनता ने उसके अनुशासन में रहना स्वीकार किया। इस प्रकार संसार में राज्य और राजा की उत्पति हुई। विवेचनात्मक दृष्टि से अगर देखा जाय तो यह एक प्रकार से राज्य की दैवी उत्पति का सिद्धान्त प्रतीत होता है। जिसमें प्रजा ने एक व्यक्ति को अपने ऊपर शासन करने का अधिकार इस शर्त के साथ दिया कि वह धर्म और न्याय के अनुरूप

---

32. विन्टरनीत्ज, पूर्वोक्त, पृ. 464।
33. विमलचन्द्र पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ. 207।
34. महाभारत, शान्तिपर्व, 59-14।

आचरण करेगा। इसके अतिरिक्त राज्य की उत्पति के सम्बन्ध में महाभारत के 67वें अध्ययन में जो विवरण प्राप्त होता है वह इस प्रकार है कि प्रारम्भ में मनुष्यों में एक प्रकार का अनुबन्ध हुआ जिसका समुचित पालन न हो पाने पर बहुत समय तक अराजकता की स्थिति बनी रही। तब सताये हुए लोगों ने आपस में मिलकर शपथपूर्वक यह नियम स्थापित किया कि हमारे बीच कोई निष्ठुर वचन कहने वाला कठोरदण्ड युक्त तथा पराया धन हरने वाला होगा वह त्याज्य समझा जायेगा। पर राज्य के अभाव में यह अनुबन्ध भी न चल पाया तत्पश्चात लोगों ने ब्रह्मा से अनुरोध किया कि उनके लिये एक राजा की नियुक्ति करे ब्रह्मा के आदेश से मनु ने राजा बनना स्वीकार किया। प्रजा ने भी राजकीय अनुशासन मानने और शासन कार्य सुचारु रूप से चल सके इसके लिए उचित कर देने का वचन दिया। उपरोक्त सिद्धान्त यह स्पष्ट करते हैं कि अराजक व्यवस्था का अन्त करने के लिये ही राज्य एवं राजा की उत्पति हुई तथा ये सिद्धान्त आंशिक रूप से दैवी सिद्धान्त थे।

राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में महाभारत यह बताता है कि वह सप्तांग है शान्ति पर्व में दर्शाया है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह आत्मा, सेवक, कोष, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर इस साप्तात्मक राज्य का भलीभांति प्रतिपालन करे। शान्ति पर्व यह भी बताता है कि राज्य के समस्त सात अंगों में से कौन सा श्रेष्ठ है। यह बताना कटिन है क्योंकि अवसर विशेष पर अंग-विशेष अपना अपना महत्व बताते हैं।[35]

महाभारत में दोनों प्रकार अर्थात् राजतन्त्र तथा गणतन्त्र शासन प्रणालियों द्वारा शासित राज्यों का ज्ञान होता है। परन्तु विशेष रूप से राजतन्त्र का वर्णन है। महाभारत में वर्णित राजाओं की दिग्विजयों का उल्लेख आया है जिससे ज्ञात होता है कि वड़े राज्यों के शासक अधिकाधिक भू-प्रदेश अथवा सम्पूर्ण भारत की भूमि पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे। करद राजाओं अथवा समान्तों की संख्या बहुत अधिक होने के कारण यह अनुमान लगाना सरल है कि देश में बड़े राज्यों की संख्या कम व छोटे छोटे राज्यों की संख्या अधिक थी। छोटे-छोटे राज्यों के शासकों को सामान्यत: राजन् और वड़े तथा सम्प्रभु राज्य के शासकों को अधिपति अथवा सम्राट की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था।

महाभारत के शान्तिपर्व में गणसंज्ञक संघीय शासन का उल्लेख आता है जो उस समय प्रचिलित थे। कई गणों का संयुक्त शासन (संघात गण) भी होता

---

35. बी० ए० सालेतोरे, एनशियन्ट इण्डियन पालिटीकल थाट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० 295।

था। महाभारत में पांच गणों का उल्लेख है। अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज, जिन्होंने एक संघ के अन्तर्गत अपने आपको संगठित किया था। इस संघ के मुख्य कृष्ण थे, जिन पर उन सब के अभ्युदय का भार था। संयुक्त संघ के सदस्य राज्य अपने अपने नेता की अधीनता में स्वायत्त थे।[36] सघ से अनेक प्रजातान्त्रिक इकाइयों के समुदाय का बोध होता था जबकि गण से प्रत्येक का। संघ में 'सभा' नामक एक प्रभुता प्राप्त संस्था होती थी जिसमें संघ के सदस्यगण राज्यों के प्रतिनिधि सदस्य होते थे और वे बहुमत से प्रशासनिक समस्याओं पर अपने निर्णय देते थे। वान-विवाद खुलकर किये जाते थे। संघों के विभिन्न दल भी थे जो एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते थे।[37]

महाभारत कालीन राज्यों के सम्बन्ध में डा. देवीदत्त शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत में जनतन्त्र' में जो विचार प्रस्तुत किये वे भी उल्लेखनीय हैं। वे लिखते हैं, 'महाभारत में अनेक राजतन्त्रीय राज्यों का उल्लेख मिलता है। परन्तु तत्कालीन जनतन्त्रीय और राजतन्त्रीय राज्यों का भेद राजा से नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों प्रकार के शासनों में राज्य के प्रधान को राजा कहते थे। तत्कालीन जनतन्त्रीय और राजतन्त्रीय शासनों में वास्तविक अन्तर उनके संगठन में था जिसको राजपद पर अभिषेक राजा का कार्यकाल, मन्त्री परिषद व मन्त्रीमण्डल और राज्य-सभा आदि पर विचार करने से स्पष्ट किया जा सकता है। धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में जो राज्य के कर्तव्य स्पष्ट किये गये हैं, उनमें अधिकांश जनतन्त्रीय और राजतन्त्रीय दोनों प्रकार के राज्यों पर लागू होते हैं, जिनमें राज्य की स्थापना, राज्य का सावयव स्वरूप, राजा के वांछनीय गुण और राजा के अधिकांश कर्तव्य मुख्य है। महाभारत में हमको जनतन्त्रीय राज्यों के चार रूप मिलते हैं—प्रथम वैराज्य, द्वितीय पारमेष्ठम राज्य, तृतीय गणराज्य और चतुर्थ संघ राज्य। वैराज्य में सारी जनता मिलकर राज्यकार्य चलाती थी, पारमेष्ठ्य राज्य में प्रतिनिधित्व का अधिकार गृहपतियों का था, परन्तु गणराज्य में प्रतिनिधित्व जाति और कुलों के आधार पर होता था। एकाधिक गणराज्य मिलकर संघराज्य बनाते थे। महाभारत में संघराज्य के दो रूप मिलते हैं जिनको अंग्रेजी में फैडरेशन और कानफेडरेशन कहते हैं।[38]

---

36. राधाकुमुद मुखर्जी, (अनु. वासुदेवशरण अग्रवाल) हिन्दू सभ्यता, पृ० 142।
37. हरिश्चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 66।
38. डा. देवीदत्त शुक्ल, प्राचीन भारत में जनतंत्र, (प्रस्तावना), पृ. 9।

महाभारत के राजा :

महाभारत में भी रामायण की भांति ही राजा को देवतुल्य माना है। महाभारत में आया है कि राजा विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत अग्निरूप, सूर्यरूप, मृत्युरूप, यमरूप और कुबेर रूप होता है।[39] परन्तु यह कथन केवल धार्मिक राजा के लिये ही प्रयुक्त होता था, अधार्मिक राजा के लिये नहीं। चूंकि महाभारत स्पष्ट संकेत करता है कि राजा उसे ही स्वीकारना चाहिये जो धर्म समन्वित हो।[40]

महाभारत कालीन राज्य शीर्षक के अन्तर्गत ही यह स्वीकार किया जा चुका है कि राजा की उत्पति राज्य की उत्पति से जुड़ी थी और प्रथम राजा की सृष्टि दैवी थी। महाभारत में भीष्म ने कहा भी है कि राजा का पद दैवी है। राजा महान देवता है जो नर रूप धारण कर पृथ्वी पर विचरण करता है, अतः उसका अनादर नहीं करना चाहिये।

यथा :

'न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिप :
महती देवताह्येणा नररूपेण तिष्ठति।[41]

महाभारत के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राज्याधिकार सामान्यातया वंशानुगत होता था। राजा की मृत्यु के पश्चात सामान्यतया ज्येष्ठ पुत्र ही राजा बनता था। परन्तु कभी-कभी अन्य पुत्रों को भी यह पद प्राप्त हो जाता था। जैसा कि महाभारत के उदाहरण से स्पष्ट है—राजा प्रतीप ने अपने छोटे पुत्र शान्तुन को और ययाति के पुरु को राजा बनाया।

राजा राज्य के प्रशासन का अध्यक्ष होता था। राजा का धर्म था कि वह मन, वचन और कर्म से न्याय करे, गरीबों पर अत्याचार न करे। अपराधी होने पर अपने पुत्र को भी दण्ड दे। अपने सेना-कोष व्यापार की वृद्धि करते हुये प्रजा के कष्टों का निवारण करे। महाभारत के कई स्थलों पर यह उल्लेख आया है कि प्रजा की हित-साधना और धर्मानुसार शासन करना राजा का प्रमुख कर्तव्य है :

---

39. महाभारत, शान्तिपर्व, 68-41 से 47।
40. महाभारत, 90-14।
41. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 68-40।

पुत्रा इस पितुर्गेहे विषये यरय मानवः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ।।[42]

अर्थात् उस राजा को सर्वश्रेष्ठ कहना चाहिये जिसके राज्य में प्रजा पिता के घर में पुत्र की भांति निर्भय विचरती है ।

महाभारत द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि राज्याभिषेक के विना कोई भी व्यक्ति वैध राजा नहीं होता था । राजसिहासन पर आरुढ़ होने से पूर्व अभिषेक की क्रिया आवश्यक थी । राज्याभिषेक बड़े धूमधाम और नीतिपूर्वक होता था । राज्याभिषेक के समय राजा को मन वचन और कर्म से धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करने और कभी भी स्वेच्छाचारिता न कराने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी ।

महाभारत में राजपुत्र को युवराज अथवा भावी उत्तराधिकारी बनाने की प्रथा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । राजा के जीवन में ही भावी राजा नियुक्त कर दिया जाता था । राजा के अवयस्क रहने पर या किसी अन्य कारणवश कार्य न करने के स्थिति में राज-प्रतिनिधि नियुक्त करने का भी उल्लेख मिलता है । आश्रमवासी पर्व के अन्तर्गत आया है कि युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ बाहर गये तो नगर को एक पुरोहित और युयुत्सु नामक सेनापति के सुपुर्द किया था ।

महाभारत में राजा की शासन में सहायता हेतु जिन अधिकारियों अथवा पदाधिकारियों (राकर्ताओं) की संख्या दी गई है । जिसके अनुसार चार ब्राह्मण, जिसके अन्तर्गत वैध प्रगल्म, स्नातक और शुचि थे । 8 बलशाली एवं शस्त्रधारी क्षत्रिय, 21 वित्त सम्पन्न वैश्य और चार शुद्र (जिनकी अवस्था 50 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिये)[43] थे । इसके अतिरिक्त मंत्री भी होते थे जिनकी संख्या उपलब्ध नहीं है ।

महाभारत में सम्प्रभुता की अवधारणा :

महाभारत में वर्णित राज्यों में राजतन्त्र एवं जनतन्त्र दोनों प्रकार की शासन पद्धति का उल्लेख मिलता है । अर्थात् कुछ राज्यों में राजाओं द्वारा वंश क्रमांगत शासन चलाया जाता था तो दूसरी ओर ऐसे राज्यों का भी महाभारत उल्लेख करता है जिनमें गणतन्त्र व कुलतन्त्र शासकों की सत्ता थी । परन्तु दोनों प्रकार की शासन पद्धतियों में राजा ही शासक का कार्य संभालता था । महाभारत

42. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 57-33 ।
43. महाभारत, शान्तिपर्व, 85-7-10 ।

का सम्पूर्ण अवलोकन करने पर उसके विभिन्न प्रसंगों द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल में भी सम्प्रभुता का वास प्रजा अथवा जनता में वैदिक युग की भांति ही विद्यमान था। महाभारत में सम्प्रभुता के लिये 'दण्ड' शब्द का प्रयोग किया गया है। अवांछित तत्वों का दमन करने के कारण सम्भवतः इसे दण्ड कहा गया।

यथा।

'यस्माददान्तम दमयत्यशिष्टान दण्डयत्यणि।
दमनाद दण्डनाच्चैव तस्माद दण्ड विदुर्बधाः ।।[44]

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत दण्ड को महान देवता बतलाते हुये इसके अनेक रूपों, शास्त्रों, विविध स्वरूपों के अनुसार विविध नामों और इसके अनेक तथा विविध गुणों का वर्णन करते हुए दण्ड को वस्तुतः ईश्वर का ही स्वरूप बतलाया है और कहा है :

'न स्याद यदीह दण्डो वै प्रमथेयुः परस्परम्।
भयाद दण्डस्य नान्योन्यं घ्नन्ति चैव युधिष्ठर ।।[45]

अर्थात् यदि दण्ड की व्यवस्था न होती तो सब मनुष्य एक दूसरे को नष्ट कर डालते। दण्ड के भय से मनुष्य आपस में मार-काट नहीं मचाते। दण्ड के द्वारा सुरक्षित प्रजाओं के द्वारा ही राजा फलता-फूलता है। अर्थात् दण्ड पर ही सब कुछ आधारित है। शान्तिपर्व में भीष्म को दण्ड, धर्म और राजा के सम्बन्धों पर एक अच्छा प्रभाव डालने वाला वक्तव्य है, 'जो राजा प्रिय और अप्रिय के प्रति पक्षपात न करके दण्ड का उपयुक्त प्रयोग करते हुए प्रजा की भली भांति रक्षा करता है उसका वह कार्य केवल धर्म है।[46] शान्तिपर्व के एक अन्य प्रसंग में कहा गया है दण्ड के अभाव में वर्णों और कर्त्तव्यों में संकटता फैलने लगी। कार्य-अकार्य, भोज्य-अभोज्य, पेय-अपेय का विवेक नष्ट होने लगा। यौन सम्बन्ध अव्यवस्थित हो गये। अपनी और पराई सम्पति का विचार न रहा और एक दूसरे की हिंसा पर उतारू हुए लोग एक दूसरे पर ऐसे झपटने लगे जैसे कुत्ते मांस के टुकड़े पर। बलवान लोग दुर्बलों की हत्या करने लगे और सब जगह मर्यादा-हीनता फैल गई। कहीं तब पुरुषोत्तम भगवान विष्णु के ही अवतार के रुप में

44. महाभारत, शान्तिपर्व, 15-8।
45. पूर्वोक्त, 121-34।
46. पूर्वोक्त, 121-35।

दण्ड का प्रादुर्भाव हुआ। दण्ड की महिमा के बारे में एक अन्य स्थल पर इस प्रकार भी आया है कि राजा के लिये दण्ड का निरन्तर प्रयोग अति आवश्यक है क्योंकि दण्ड का उचित प्रयोग करने वाले राजा का प्रभाव और यश सभी पर निरन्तर व्याप्त रहता है।[47] महाभारत में अन्य स्थल पर भी आया है कि दण्ड उस मर्यादा का नाम है जो मनुष्य में असंमोह (अव्यवस्था के निवारण) और अर्थ (धन सम्पति औम मनुष्यों द्वारा आकाद पृथ्वी) के संरक्षण के लिये स्थापित की गई है।[48] दण्ड के द्वारा ही प्रजा का शासन होता है और दण्ड द्वारा ही सबकी रक्षा होती है। जब सब सो रहे होते हैं तो दण्ड ही जागता रहता है। इसलिये समझदार लोग दण्ड को ही धर्म मानते हैं।

यथा।

'दण्डः ज्ञास्ति प्रजाः सर्वां दण्ड एकाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागति दण्ड धर्मं विदुर्बुधाः॥[49]

दण्ड शब्द की व्याख्या 'महाभारत कालीन राज्य-व्यवस्था' नामक शोध प्रबन्ध में डा० रघुवीर शास्त्री ने इस प्रकार की है,' दण्ड शब्द का प्रयोग महाभारत में अनेक अर्थों में हुआ है। राजकीय प्रभुता का प्रतीक 'राजदण्ड' जिसे छत्र के साथ के साथ राजा एक चिन्ह के रूप में धारण करता था, भी दण्ड कहलाता है। इसके अतिरित विधि एवं धर्म के अनुकुल आचरण करने के लिये जनता को बाध्य करने के लिये अपराधियों को 'दण्ड' देने का शासनाधकार भी दण्ड ही कहलाता है। आज भी हम उस संहिता को जिसके अनुसार आज शासन चलाया जाता है, 'भारतीय दण्ड विधान' (अ० इन्डियन पैनल कोड) कहते हैं। महाभारत में दण्ड शब्द का प्रयोग सेना, युद्ध, जुर्माना या पुरुस्कार देनें वाली कानूनी धारा आज्ञप्ति अधिनियम या अदालती फैंसला आदि अर्थों में भी किया गया हैं। तात्पर्य यह कि दण्ड शब्द में भारतीय दर्शन की 'सार्षभौम सत्ता' के भाव मूर्त रुप हैं। यह शब्द भी धर्म, ब्रह्म, वेद आदि अन्य आर्य नामों की तरह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। न केवल सार्वभौम सत्ता के किसी एक पक्ष को ही अपितु उसके अनेक सम्बद्ध तत्वों का समावेश इसमें किया गया है।[50]

---

47. माहभारत, शान्तिपर्व, 138-7-8।
48. पूर्वोक्त, 138, 7-8।
49. पूर्वोक्त, 15-10।
50. डा. रघुवीर सिंह शास्त्री, महाभारतकालीन राज्य व्यवस्था, पृ. 359।

दण्ड (सम्प्रभुता) की महाभारत के समय में क्या अवधारणा थी? वह कहां स्थित थी? इन प्रश्नों के उत्तर में प्रजा का असीमित अधिकार यह सिद्ध करने में सफल है कि वह जनता में ही निवास करती थी तथा जनता तत्कालीन परिवेश में वास्तविक सम्प्रभुता थी। महाभारत के विभिन्न स्थल इसे प्रमाणित करने में कितने सफल हैं यह विवेचन का विषय है।

राजा का वरण में जनता का अनुमोदन न मिलने पर वंशक्रमानुगत शासन वाले राज्यों में भी राजा नही बनाया जा सकता था। महाभारत के एक प्रसंग के अनुसार राजा ययाति अपने बाद अपने सबसे छोटे पुत्र पुरु को राजा बनाना चाहता था। परन्तु प्रजा के लोगों ने ययाति से यह कहा:

'अभिषेक्तुकांम तृपति पुरुं पुत्रकनीयसम्।
ब्राह्मण प्रमुखाः वर्णा इद वचनमब्रुवन ॥
कथं शुक्रस्य नप्तांर देवयान्याः सुतँ भ्रमो।
ज्येष्ठं यदुमतिक्रम्य राज्यं पुरोः प्रयच्छसि ॥
यदु ज्येष्ठस्तव सुतोजातस्तमनु तुर्वसुः।
शर्मिष्ठायास्सुतो द्रहयु स्ततोनुः पुरुदेव च ॥
कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयाम् राज्यभर्हति।
एतत्संबोध्यामस्त्वां धर्म त्वं प्रतिपालय ॥'[51]

अर्थात् राजन् शुक्र के नाती और देवयानी के पुत्र यदु की उपेक्षा कर आप क्यों पुरु को राजा बनाना चाहते हैं? यह आपका सबसे ज्येष्ठ पुत्र है, उसके बाद तुर्वसु है, उसके वाद शर्मिष्ठा का पुत्र दुह्यु है। इनके बाद फिर अनु और पुरु है। आप ज्येष्ठ पुत्रों की उपेक्षा कर किस कारण कनिष्ठ को राज्य देना चाहते हैं? यह हमें समझाइये। आप अपने धर्म का अनुसरण क्यों नहीं करते।' इसके उपरान्त ययाति ने उत्तर दिया कि मेरे बड़े पुत्र मेरे अनुकूल आचरण नहीं किया है और अन्यों ने भी मेरी आज्ञाओं का पालन सुचारू रूप से नहीं किया है। पुरु ही मेरे अनुरूप है। अतः वही मेरा उत्तराधिकारी है। इसके उपरान्त राजा ययाति की बात को सुनकर प्रजा-प्रमुखों ने राजा का प्रस्ताव मान लिया और पुरु को राजा बनाया।

इसी प्रकार महाभारत के एक अन्य प्रकरण में आया है कि राजा प्रतीप का ज्येष्ठ पुत्र देवाति सर्वगुण सम्पन्न था और राजा बनने के सब गुण उसमें थे।

---

51. महाभारत, शान्तिपर्व, 85-18-21।

प्रतीप ने वृद्ध होने पर देवापि को राजा बनाना चाहा। परन्तु प्रजा ने त्वक् रोग से पीड़ित होने के कारण उसका विरोध किया। यद्यपि वह प्रजा का प्रिय था पर देवता ऐसे राजा का अभिनन्दन नहीं करते जो हीनांग हो, अतः ब्राह्मणों, वृद्धों व पौर जानपदों ने देवापि को राजा स्वीकृति करने से इन्कार कर दिया। इस पर देवापि न वन का आश्रय लिया। प्रतीप का दूसरा पुत्र वाह्लीक था, उसे युवराज घोषित किया गया और प्रतीप की मृत्यु के बाद उसने भी युवराज पद त्याग दिया और प्रतीप के तृतीय पुत्र शन्तनु राजा हुये।

राजा के निर्वाचन अथवा चुनने के सन्दर्भ को डा० बेनी प्रसाद ने अच्छे शब्दों में व्यक्त किया है, 'उद्योग पर्व में वर्णन आता है कि दोषयुक्त राजा को देवता स्वीकृति प्रदान नहीं करते थे। महाभारत के अध्ययन से पता चलता है कि नये राजा चुनने पर साधारणतया जनता की स्वीकृति ली जाती थी। महाभारत में वर्णित अन्तंकथाओं में भी अनुवांशिक उत्तराधिकारी की ओर संकेत मिलता है और जनता द्वारा राजा की स्वीकृति की ओर भी।[52]

महाभारत के अनुसार शासन चलाने की अनुमति भी राजा द्वारा प्रजा के श्रेष्ठ व्यक्तियों अथवा महर्षियों द्वारा ली जाती थी। इसका उदाहरण निम्न है, 'राजा वैन्य ऋषियों के पास गया और उसने हाथ जोड़ कर पूछा, 'धर्म और अर्थ को देख सकने वाली बुद्धि मुझमें उत्पन्न हो चुकी है। इस सहज बुद्धि का उपयोग कर मुझे क्या करना चाहिये, यह मुझे समझाकर बताइये। मुझे जिस अर्थ समन्वित कार्य का उपदेश देंगे मैं वही करूंगा, यह बात निश्चित मानिये। इस पर ऋषियों ने उत्तर दिया—जो धर्म नियत है तुम उसका शंकारहित रूप से अनुसरण करो। तुम्हें क्या प्रिय है और क्या अप्रिय इसको भूलकर सबके प्रति समान व्यवहार करो। काम, क्रोध, लोभ और कान का तुम त्याग कर दो। जो कोई भी मनुष्य धर्म के मार्ग से विचलित हो, उसे तुम शाश्वत धर्म का अनुसरण करते हुये दण्ड दो। मन, वाणी और कर्म द्वारा इस प्रतिज्ञा का पालन करो— भूमि और जनता को ब्रह्म मानकर मैं उसका पालन करूंगा। दण्डनीति में जिन बातों को धर्मानुकूल प्रतिपादित किया गया है, मैं उनका अंशक रूप से अनुसरण करूंगा। मैं कभी स्वेच्छाचारी नहीं होऊंगा यह बात भी ध्यान में रखूंगा कि द्विजो को मुझे दण्ड नहीं देना है, और सम्पूर्ण प्रजाजन की मुझे सब प्रकार की विपत्तियों तथा संकटों से रक्षा करनी है।[53] उक्त प्रकार से शासन करने पर

52. डा. बेनीप्रसाद, पूर्वोक्त, 86-87।
53. महाभारत, शान्तिपर्व 59-1-09-117।

राजा वैन्य के शासनकाल में जनता को वृद्धावस्था दुर्भिक्ष, मानसिक क्लेक और शारीरिक रोगों का कोई भय नहीं रह गया। उसके शासन में जनता को चोर व जीव-जन्तुओं तक से कोई भय नहीं रह गया था और सारी पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण हो गई थी।[54] ऐसा उसी परिस्थिति में में हुआ जब राजा वैन्य ने दण्ड नीति द्वारा प्रतिपादित मर्यादा के अनुसार एवं प्रजा की भावनाओं को रखते हुये शासन किया।

राजा को जनता द्वारा पदच्युत किये जाने के भी प्रसंग महाभारत में मिलते हैं जो कि प्रजा की वास्तविक सम्प्रभु शक्ति के परिचायक है :

'तेषा ज्येष्ठं खनीनेत्रः सुतान सर्वानपीडयत् ।
खनीनेत्रस्तु विक्रान्तों जित्रा राज्यमकष्टम् ।
नासकद्रशिक्षतुं राज्यं नान्वरज्यन्त तं प्रजाः ।।

तमपास्य च तद्राज्ये तस्थ पुत्रं सुवर्चसम् ।
अभ्यषिच्यन्त राजेन्द्र मुदिताह्यभवंस्तदा ।।

स पितुर्विक्रिया द्रष्टवा राज्यान्निरसनन्च तत् ।
नियतो वर्तयामास प्रजाहित चिकीर्षया ।।

ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शुचिः शामदमान्वितः ।
प्रजास्तं चन्वरज्यन्त धम नित्य मनस्विनम् ।[55]

राजा विविंश के पन्द्रह पुत्रों में ज्येष्ठ खनीनेत्र था।अपने भाइयों को पीड़ित करके वह राजा सिंहासन पर आरुढ़ हो गया। परिणामस्वरूप जनता ने उसे पदच्युत कर दिया और उसके पुत्र सवर्चा को राजगद्दी पर बैठाया। अपने पिता के उदाहरण उसके सम्मुख था कि जिसे जनता द्वारा पदच्युत किया गया था। इस कारण उसने प्रजा के हित को सदा दृष्टि में रखा और राजधर्म में रहते हुये उसने राज्य का शासन किया। प्रजा उसके प्रति अनुरक्त हो गई। चूंकि सुवर्चा सत्यवादी, क्षम व दम से युक्त और ब्राह्मण गुणों से युक्त था।

इस प्रकार महाभारत के अनेक उद्द्रणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जनता की स्वोकृति हर क्षेत्र में केवल औपचारिक न थी। महाराज प्रतीप का चाहते हुए भी देवापि को राज्य न दे पाना, महाराज ययाति का प्रजा से अनुनय करना कि पुरु का राज्याभिषैक कर दिया जाये, सम्पूर्ण भारत की दिग्विजय-करके कर्ण के लौट आने पर दुर्योधन जैसे निरंकुश सम्राट की पाण्डवों की तरह

54. महाभारत, शान्तिपर्व, 59/130।
55. महाभारत, अश्वमेघ पर्व, 47/61।

राजसूय यज्ञ करने की आज्ञा का राज पुरोहित और ब्राह्मण वर्ग के द्वारा न माना जाना,[56] जनता का चौराहों और सभाओं में एकत्रित होकर युद्धिष्ठिर के राज्य के उत्तराधिकार का समर्थन करना अन्त में अनेक राजाओं और सभी वर्णों की सात अक्षौहिणी सेना का धर्मराज युद्धिष्ठिर को उसके उचित राज्याधिकार को वापस दिलाने के लिए महाभारत युद्ध में एकत्रित होना आदि अनेक उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि जनता की राज्य में क्या स्थिति थी। जनता राजा के उत्तराधिकारी के चुनाव जैसे महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णयों में सक्रिय भाग लेती थी और राजाओं को अपने निर्णयों का पालन करने के लिए बाध्य करती थी। वह बड़ी सशक्त संगठित और सुसंचालित राज्यक्रान्तियों को क्रियान्वित कर सकने की क्षमता रखती थी।

उपरोक्त उदाहरण यह स्पष्ट संकेत करते हैं कि महाभारतकाल में वास्तविक सम्प्रभु जनता थी न कि राजा।

बौद्ध युगीन गणराज्य :

छठी सदी ईसा पूर्व का काल प्राचीन भारतीय इतिहास में चेतना और जागृति का समय स्वीकार किया है। इस समय धर्म के क्षेत्र में विचारों का एक नवीन प्रवाह उठा जिसने सम्पूर्ण देश को आन्दोलित कर दिया। इसका केन्द्र पूर्व भारत था, जहां, आर्यों का प्रभाव बहुत गहरा न हो पाया था।[57] धार्मिक क्षेत्र के साथ-साथ राजनीतिक क्षेत्र में भी एक नई चहल पहल दृष्टिगोचर होती है। छठी सदी ईसा पूर्व के काल से पहले कोई भी ऐसा साहित्य उपलब्ध नही है जिसके आधार पर भारत के राजनीतिक इतिहास को क्रमबद्ध रूप से तैयार किया जा सके। किन्तु छठी सदी ईस्वी पूर्व से इस दशा में अन्तर आना आरम्भ होता है। निरन्तर विकास के द्वारा भारत के विविध जनपदों में जिस प्रकार की शासन संस्थायें स्थापित हो गई उनका पर्याप्त परिचय बौद्ध और जैन साहित्य से मिलता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रसंगवश अनेक ऐसे सूत्र मिलते हैं जो इस युग के जनपदों और उनकी शासन-संस्थाओं पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।[58]

---

56. महाभारत, वनपर्व, 255/13।
57. विनोदचन्द्र सिन्हा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 52।
58. सत्यकेतुविद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति और राजशास्त्र, पृ० 90।

बौद्ध साहित्य में स्थान-स्थान पर सोलह महाजनपदों का उल्लेख मिलता है।[59] यह सूची बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर एक ही ढंग से प्रस्तुत की गई है।[60] इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि सभी महाजनपदों में एक ही प्रकार की शासनपद्धति विद्यमान नहीं थी। उनमें से कुछ राजतन्त्र थे तो कुछ गणतन्त्र। सोलह महाजनपदों में वज्जि, मालव और सूरसेन का गणतंत्रीय राज्य होना तो निश्चित ही माना जा सकता है। पर इनके अतिरिक्त निम्न गणराज्यों का उल्लेख भी बौद्ध साहित्य में मिलता है :

1. कपिलवस्तु के शाक्य,
2. रामग्राम के कोलिय,
3. मिथिला के विदेह,
4. कुशीनगर के मल्ल,
5. पावा के मल्ल,
6. पिप्पलिवन के मोरिय,
7. अल्लकप्प के बूलि,
8. सुंसुमार पर्वत के भग्ग,
9. केस पुत्र के कालाम,
10. वैशाली के लिच्छवि।[61]

कपिलवस्तु के शाक्य, वैशाली के लिच्छवि, मिथिला के विदेह तथा वज्जि संघ के विषय में अनेक महत्वपूर्ण निर्देक बौद्ध साहित्य में मिलते हैं। अतः इन पर विस्तार से विचार किया जा सकता है :

कपिलवस्तु के शाक्य :

शाक्य गणराज्य वर्तमान गोरखपूर जिले के स्थान पर था। इसके पश्चिम में कोसल का राज्य था और मल्ल राज्य इसके दक्षिण पूर्व में था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी।[62] कपिलवस्तु के अतिरिक्त शाकराजा के अनेक नगरों का उल्लेख बौद्ध साहित्य में आया है जैसे सामगाम, उलुम्पा, द देवदह, चानुमा,

---

59. अंगुत्तर निकाय, 1-213-4-252, 256-160।
60. रीज डेवीडस, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 188।
61. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० 94।
62. डा० देवीदत्त शुक्ल, प्राचीन भारत में जनतंत्र, पृ० 146।

सक्वर, सीलावती और खोमदुस्स आदि।[63] ऐसा माना जाता है कि शाक्य लोग क्षत्रिय थे और महात्मा बुद्ध का जन्म इसी वंश में हुआ था। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार शाक्य जाति का सम्बन्ध प्राचीन इक्ष्वाकु वंश के साथ जोड़ा गया है। सुमंगल विलासिवी ओर महावंश[64] की कथाओं में शाक्यों को राजा ओक्काक या इक्ष्वाकु का वंशज कहा गया है। डा० बी० के० सरकार ने शाक्यों के लिये लिखा है कि इस संघ (गणराज्य) में 80,000 कुल थे अर्थात् इसकी जनसंख्या लगभग 5,00,000 थी। इसकी संघ सभा थी और संघ का प्रधान राजा कहलाता था। बुद्ध के पिता शुद्धोधन इसी प्रकार के राजा थे। गणराज्य का प्रशासनिक और न्यायिक कार्य एक सार्वजनिक सभा द्वारा किया जाता था। प्रशासनिक और न्यायिक कार्याएका केन्द्र राजधानी नगर में संथागार था। युवक और वृद्ध समान रूप से राज्य शासन की मननात्मक कार्यवाही में भाग लेते थे।[65]

शाक्य राज्य में शासन करने के लिये एक परिषद होती थी, जिसके अधिवेशन कपिलवस्तु के सन्थागार में हुआ करते थे। बौद्ध साहित्य में कपिलवस्तु के सन्थागार (सभाभवन) का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है। अम्वठ्ठसुत्त में वर्णन आता है कि एक बार पौष्करसाति नाम का ब्राह्मण शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में गया वहां संन्थागार में बहुत से शाक्य ऊंचे आसनों पर बैठे हुये थे। महावस्तु के अनुसार वाराणसी के राजधराने के 52 कुमार कपिलवस्तु में बसने के लिये आये। उनके प्रस्ताव शाक्य परिषद के सम्मुख पेश किये गये। इस शाक्य परिषद ने सदस्यों की संख्या महावस्तु में पांच सौ लिखी गई है। राजा प्रसेनजित ने शाक्य-कुमारी के साथ विवाह करने की इच्छा से जो राजदूत भेजा था, उसने भी अपने राजा के सन्देश को संन्थागार में एकत्रित पाँच सौ शाक्यों की परिषद के सम्मुख उपस्थित किया था। ललिता विस्तार के अनुसार भी शाक्यों की परिषद के सदस्यों की संख्या पांच सौ थी। इससे स्पष्ट है कि शाक्य परिषद में प्रत्येक नागरिक सदस्य नहीं होता था। शाक्य-राज्य एक प्रकार का श्रेणीतन्त्र (ऐरिस्ट्रोक्रेसी) था, जिसमें कुलीन शाक्य घरानो के मुखिया ही शासन का सब कार्य देखते थे। इन पांच सौ सदस्यों की नियुक्ति किस प्रकार होती थी, इस

---

63. कैम्ब्रिज हिस्ट्र आफ इण्डिया, वाल्यूम प्रथम, पृ० 175।
64. महावंश, एडिटिड वाई जिजर, पृ० 12-14।
65. बी. के. सरकार, दी पालिटीक इन्सटीट्यूशनस एण्ड थ्योरीज आफ दि हिन्दू ज, पृ० 142।

विषय में कोई निर्देश बौद्ध साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।[66] डा० रीजडेविड्स ने सन्थागार पर प्रकाश डालते हुये लिखा है कि जिस समय महात्मा बुद्ध कपिलवस्तु के समीप न्यग्रोधाराय में ठहरे हुये थे, तब शाक्यों का एक नवीन संन्थागार बनकर तैयार हुआ था। शाक्यों की प्रार्थना पर महात्मा बुद्ध ने इस नवीन सन्थागार का उद्‌घाटन किया और रात भर उनके अपने आनन्द तथा भोग्गलायना के उपदेश होते रहे। उन्होंने आगे भी सन्थागारों के लिये लिखा है कि शाक्य राज्य के अन्य नगरों में भी इसी प्रकार के सन्थागार विद्यमान थे और उनके निवासी अपने सन्थागारों में एकत्रित होकर अपने स्थानीय नियमों की व्यवस्था किया करते थे।[67]

महात्मा बुद्ध के समय में शाक्य गणराज्य एक स्वतन्त्र तथा समृद्ध राज्य के रूप में विद्यमान था। इसकी स्वतन्त्रता का अन्त साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के द्वारा हुआ। कौशल देश के राजा विडुडभ (विरुद्धक-प्रेसनजित्) के आक्रमण द्वारा इसकी स्वतन्त्र सत्ता नष्ट की गई।[68]

वैशाली के लिच्छवि :

कपिलवस्तु के शाक्यों का महत्त्व जिस प्रकार महात्मा के कारण अधिक आंका जाता है, ठीक उसी प्रकार वैशाली के लिच्छवियों का महत्त्व जैन धर्म के संस्थापक वर्धमान महावीर के कारण अधिक है। महावीर लिच्छिवि न थे पर वैशाली के शक्तिशाली राज्यसंघ में सम्मिलित ज्ञातृकगण में उनका जन्म हुआ था। इसलिये जैनों का धार्मिक साहित्य इस गणराज्य के विषय में प्रकाश डालता है। लिच्छवि क्षत्रिय थे। महात्मा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात उनकी अस्थियों के हिस्से के लिये लिच्छवि लोगों ने भी यह अधिकार किया कि महात्मा बुद्ध क्षत्रिय थे, हम भी क्षत्रिय है इसलिये उनकी अस्थियों का भाग हमें भी प्राप्त होना चाहिये ताकि हम उनके सम्मान के लिये स्तूवों का निर्माण करा सकें।[69]

लिच्छवि गणराज्य की राजधानी वैशाली थी जिसका संस्थापक राजा इक्ष्वाकु का पुत्र विशाल था जिसके कारण इसका नाम वैशाली पड़ा यह प्रसंग रामायण में इस प्रकार आया है :

---

66. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० 96।
67. डा० रीजडेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 20।
68. सत्यकेतु विद्यालंकार, पूर्वोक्त, पृ. 97।
69. डायलाग आफ बुद्धा, वोल्यूम तृतीय, पृ. 187।

'इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुनः परमधार्मिकः ।
अलम्बुषयामुत्पन्नः विशाल इति विश्रुतः ।
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता ॥[70]

विष्णु पुराण को अगर आधार माना जाय तो उसके अनुसार वैशाली संस्थापक कुमार विशाल इक्ष्वाकु वंश के राजा तणबिन्दु का पुत्र था ।[71] वैशाली नगर का वर्णन अन्य प्राचीन ग्रन्थ भी करते है जो कि यह दर्शाते है कि यह नगर बहुत विशाल, विस्तृत और समृद्ध था ।

लिच्छवि गणराज्य के संगठन पर आधुनिक विद्वान एक मत नहीं है । यह मतभेद बौद्ध साहित्य में उपलब्ध जातक 149 के निम्नलिखित अंश पर है :

'तत्थ निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वसन्तानं येव राजनाम् सत्तसहस्सानि सत्तसतानि सत्त च राजानौ होति ततका येव उपराजानौ ततका सेनापतिनौ ततका भन्डागारिका ।'

डा० के. पी. जायसवाल ने उपरोक्त गद्यांश का अर्थ यह किया है कि शासन का अधिकार 7707 व्यक्तियों को प्राप्त था । उनमें से प्रधान, उप-प्रधान, सेनापति अथवा कोषाध्यक्ष बनते थे ।[72]

डा० घोषाल ने जायसवाल के मत का खण्डन इस प्रकार किया कि उन्होंने उपरोक्त गद्यांश में अनेक परिवर्तन करके अर्थ को बदल दिया है, पुनश्च उन्होंने इसका तात्पर्य साधारण अर्थ से भिन्न लिया है ।[73]

डा० मजूमदार उपरोक्त गद्यांश का यह अर्थ निकालते है कि लिच्छवि राज्य में अनेक छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित थे । जबकि समस्त राज्य पर उन छोटे-छोटे राज्यों के प्रधानों की सभा शासन करती थी, जिसका प्रधान किसी निश्चित अवधि के लिये निर्वाचित किया जाता था ।[74]

डा० यू. ए न. घोषाल के अनुसार गद्यांश में 7707 संख्या सही अंक नहीं है । यदि इसको सही संख्या मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह लेना होगा कि

---

70. रामायण, 47/11-12 ।
71. विल्सन, विष्णु पुराण वाल्यूम तृतीत, पृ. 246 ।
72. के. पी. जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ. 45 ।
73. डा. यू. एन. घोषाल, स्टडीज इन एनशियन्ट हिस्ट्री एण्ड कल्चर पृ. 383 ।
74. डा. मजूमदार, एनशियन्ट इण्डिया, पृ. 164 ।

7707 कुछ राज्यों के सस्थापकों के थे जो वैशाली में रहते थे। उनके मतानुसार यदि लिच्छिवियों के पृथक-पृथक राज्य मान लिये जायें तो इनकी पृथक-पृथक सेना और कोष होगा। ऐसी स्थिति में संघ का बिना सेना और कोष के ही दण्डाधिकारी होगा। इसके अतिरिक्त एक ही नगर में 7707 राजधानियां तथा संघ की सरकार होना भी असम्भव प्रतीत होता है। इसलिये डा० घोषाल यह शंका प्रकट करते है कि सम्भवतः गद्यांश में ततका वेव उपर।जानों आदि शब्द किसी ने बाद में जोड़ दिया होगा।

जातक 149 के उपर्युक्त गद्याँश का साधारण अर्थ यह है कि वैशाली नगर में शासन करने के लिये सदैव 7707 राजा रहते थे और इतने ही उपराजानी, सेनापति तथा भाण्डागरिक रहते थे। वैदिक काल में राजनः शब्द राज्य सभा के सदस्यों के लिये प्रयुक्त होता था। महाभारत में भी राजनः शब्द इसी सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर भी राजानो शब्द लिच्छिवि राज्यसभा के सदस्यों के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है परन्तु राजानः की स्थिति में परिवर्तन यह है कि प्रत्येक राजानः के साथ एक उपराजानः एक सेनापति और एक भाण्डागारिक लगा हुआ था।[75]

उपरोक्त विवरण यह आभास देता है कि प्रत्येक राजानः एक सामान्त रहा होगा और उसके पास जमींदारी होती होगी और उसके प्रबन्ध के लिये वह एक भाण्डागारिक और सेनापति रखता होगा और प्रत्येक सामन्त अपने जीवनकाल में ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देता होगा जिसको उपराजानों कहा जाता होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण लिच्छवि राज्य सामन्तों में बंटा हुआ था और प्रत्येक सामन्त राज्य सभा का सदस्य था। सामन्त स्वयं को राजा कहते थे। इन राजाओं का राज्याभिषेक भी होता था। राज्य में एक शासनाधिकारी भी होता था जिसक नायक कहते थे। इस नायक की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती थी इसकी पुष्टि रौकहिल ने भी की है।[76] सम्भवतः यह नायक ही लिच्छवि राजाओं में प्रधान व राष्ट्रपति का कार्य करता हो। सम्भवतः इसका कार्य लिच्छवि राज सभा के नियमों को क्रिया रूप में परिणत करना था।[77]

---

75. डा. देवीदत्त शुक्ल, प्राचीन भारत में जनतंत्र, पृ. 152-153।
76. राकहिल, लाइफ आफ बुद्ध, पृ. 62।
77. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ. 101।

जिस समय मगध के सम्राटों ने अपनी शक्ति का विस्तार गंगा के उत्तर की ओर किया तो लिच्छवि उनका सामना न कर सके। लिच्छवि राज्य की स्वतन्त्रता का हरण मगध के राजा अजातशत्रु ने किया।

मिथिला के विदेह :

पूर्वी भारत ने अन्य संघों में विदेहों का एक संघ था। विदेहों की राजधानी मिथिला थी जो कि वर्तमान के दरभंगा जिले के अन्तर्गत आती है। वैदिक युग, रामायण काल तथा महाभारत के समय में भी विदेहों में वंशक्रमानुगत राजा होते थे। परन्तु बौद्ध काल में विदेहों ने गणतन्त्र प्रणाली को अंगीकार कर लिया था। राजतन्त्र की गणतन्त्र में परिणीति का निर्देश महाभारत के कुछ उद्धरणों द्वारा होता है। विदेह का राजा जनक ब्रह्म ज्ञान में इतना लीन हो गया कि उसे मोक्ष नजर आने लगा था। इसी मनःस्थिति में राजा ने राजकार्य की उपेक्षा प्रारम्भ की :

अपि गाथा पुरा गीता जनकेन वदन्युत।
निर्द्वन्द्वंन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता॥

अनन्त बत में वित्तं यस्य में नास्ति किन्चन।
मिथिलाया प्रदीप्तायां न भे किन्चित्प्रहचते।[78]

अर्थात् जब मैं सर्वथा अकिन्चन हो जाऊ, जब मेरे पास कोई धन न रहे, तभी मुझे अनन्त धन की प्राप्ति होगी। यदि मिथिला अग्नि द्वारा भस्म भी हो जाय, तो भी मेरा तो कुछ नहीं बिगडता। इस प्रकार की मनोवृत्ति जिस राजा की हो, जो राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों की ओर से उदासीन हो वह राज्य को सुचारू रूप से नहीं चला सकता। उसकी इस प्रवृति को देखकर उसकी रानी कौशल्या ने उससे कहा—'क्या कारण है जो तुम धन धान्य से युक्त इस राज्य का परित्याग कर भिक्षावृति को अपनाने के लिये कटिबद्ध हो। राज्याभिषेक के समय तुमने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे याद करो। इस समय तुम्हारी वृति उस प्रतिज्ञा के सर्वथा विपरीत है तुम महान राज्य का परित्याग कर एक स्वल्प बात से क्षुब्ध हो रहे हो। तुम प्रदीप्त श्री का परित्याग कर इस समय एक कुत्ते के समान दीख रहे हो। आज तुम्हारी माता पुत्रविहीन हो गई है और कौशल्या पतिविहीन। सब क्षत्रिय यह समझते हुये कि धर्म और काम तुम पर आश्रित है, तुम्हारा अनुगमन करते हैं, और तुम्हीं पर भरोसा रखते हैं। उन सबको निराश

---

78. महाभारत, शान्तिपर्व, 17/18-19।

व विफल करके तुम पता नहीं किस लोक को जाओगे। तुम जिस वृत्ति का अनुसरण कर रहे हो, उसके कारण तुम्हारी प्रतिज्ञा का भंग होता हैं। हे राजन्; तुम पृथ्वी का पालन करो, पृथ्वी पर तुम्हारा अनुग्रह हो।[79] परन्तु उस पर इन बातों का तनिक भी प्रभाव न पड़ा।

संसार के इतिहास में कितने ही राजाओं को अपने राजसिंहासनों का परित्याग इसलिये करना पड़ा है क्योंकि वे अपने राजधर्म की उपेक्षा कर प्रजा पर अत्याचार करते थे। पर भारतीय इतिहास में राजा जनक का एक ऐसा उदाहरण मिलता है, जिसने ब्रह्म ज्ञान में लीन के कारण अपने राजकीय कर्तव्यों की उपेक्षा कर दी थी। 'मिथिला चाहे आग में जलकर भस्म भी हो जाय इससे मेरा तो कुछ नही बिगड़ता' यह मनोवृत्ति ठीक उसी प्रकार की है जैसे रोमन सम्राट नीरो की थी, जो कि रोम को अग्नि से भस्म होता हुआ देखकर स्वयं बाँसुरी बजाता हुआ उस दृश्य का आनन्द ले रहा था। सम्भवतः विदेश के राजा जनक की इसी मनोवृति के कारण जनता ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था और राजसत्ता का अन्त करके जनपद में गणतन्त्र शासन की स्थापना कर दी थी।[80] कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसी राजा जनक का विवरण दिया है सम्भवतः विदेह के जनक का व्यक्तिगत नाम कराल था जिसके बन्धु बान्धवों के साथ विनिष्ट होने का उल्लेख है।[81]

विदेहों ने रक्षात्मक कारणों से सम्भवतः लिच्छिवियों के साथ मिलकर एक संघ बना लिया था जिसे बज्जि संघ कहा गया है।

बज्जि संघ :

लिच्छवि, विदेह और अन्य 6 गणराज्यों ने आपसे में सम्भवतः रक्षात्मक दृष्टिकोण को दृष्टि में रखते हुये एक संघ की स्थापना की जिसे बज्जि संघ कहा गया। कुण्डग्राम के ज्ञातृक गण भी इस संघ में सम्मिलित थे। इसी ज्ञातृक गण के वर्धमान महावीर थे और इनके पिता सिद्धार्थ ज्ञातृक गण के प्रमुख नेता थे। ज्ञातृक राज्य के सम्बन्ध में डा० हार्निले ने लिखा है, 'वहां का शासक एक सभा (सीनेट) द्वारा होता था, जिसमें क्षत्रिय परिवारों के मुख्य नेता सम्मिलित

---

79. महाभारत, शान्ति पर्व, 18/13-22।
80. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ. 103-104।
81. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1/3।

होते थे। इस सभा के अध्यक्ष को राजा कहते थे। जो उप-राजा और सेनापति की सहायता मे शासन का संचालन करते थे।[82] बज्जि राज्य संघ, जिसमें लिच्छवि, विदेह और ज्ञातृक राज्यों के अतिरिक्त अन्य भी 5 राज्य भी सम्मिलित थे, के शासन के स्वरूप के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ महापरिनिव्बानसुत में उपलब्ध होता है।[83]

गौतम बुद्ध ने संघ की उन्नति और सफलता के लिये सात गुणों का होना आवश्यक बताया है, जो उनके अनुसार तत्कालीन बज्जियों में पाये जाते थे।

1. जल्दी-जल्दी सभा करना और उनमें मताधिकार प्राप्त व्यक्तियों का अधिकाधिक भाग लेना।
2. राजकार्य एकमत होकर सहयोग से करना।
3. विधियों का उल्लंघन न करना और समाज विरोधी विधियां न बनाना।
4. वयोवृद्ध व्यक्तियों का उचित सम्मान करना और उनके विचारों को उचित महत्व देना।
5. स्त्रियों और कन्याओं के साथ बलात्कार न करना।
6. अपने धर्म में दृढ़निष्ठा रखना।
7. कर्तव्यपरायण होना।[84]

उपरोक्त बातें यह सिद्ध करने में सक्षम हैं कि बज्जि संघ की सभायें जल्दी-जल्दी होती थी और उनका कार्य सर्वसम्मति अथवा बहुमत से होता था। संघ विधि निर्माण में सक्षम था। यह वर्णन कुछ ऐसा स्पष्ट करता है कि बज्जि संघ फेडरेशन के रूप में था।

महापरिनिव्बानुसत्त की बुद्धघोष कृत व्याख्या में बज्जिसंघ की न्याय व्यवस्था को दर्शाया गया है। इसके अनुसार क्रमानुसार सात न्यायालय थे :

1. बनिच्चयमहामात,
2. बौहारिक,
3. सुत्तघर,
4. अटठकुल,

---

82. डा. हार्नले, यूबासागदासाओ, वोल्यूम-द्वितीय, पृ. 6।
83. बुद्धचर्या (महापरिनिव्बास सुत्त) पृ. 520-521।
84. रीज डेविडस, डायलाग आफ द बुद्ध, 2/79 से 85 तक।

5. सेनापति,
6. उप-राजा,
7. राजा।

प्रत्येक अपराधी पर क्रमानुसार सातों न्यायालयों में विचार किया जाता था और प्रत्येक न्यायालय को अधिकार था कि कथित अपराधी को निर्दोष पाने पर मुक्त कर दे, परन्तु अपराधी होने पर अपने से उच्चतर न्यायालय में अपराधी को विचारार्थ भेज दे। इस प्रकार अपराधी को दण्ड केवल सर्वोच्च न्यायालय अर्थात् राजा के द्वारा ही मिल सकता था।[85]

गणराज्यों में सम्प्रभुता :

गणराज्यों के इतिहास का अवलोकन करने पर प्रायः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय सम्प्रभुता जनता में ही तिहित थी। नागरिक अपने-अपने अधिकारों के प्रति पूर्ण रूपेण जागरूक थे। जनता राजा का चुनाव करती थी परन्तु सम्भवतः यह कार्य कुलों के मुखियाओं के माध्यम से होता था।

शाक्य गणराज्य में जनतन्त्र शासन पद्धति प्रचलित थी। उसका कोई अंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था। राज्य के मुखिया को राजा कहा जाता था। प्रत्येक मुखिया व सरदार को राजा नहीं कहा जाता था। राजा केवल एक होता था जिसे निर्वाचित किया जाता था। डा० रीज डेविड्स ने लिखा है, 'शासन व्यवस्था और न्याय के कार्य शाक्यों की सलाह द्वारा सम्पन्न होते थे, जिसके लिये छोटे-बड़े सभी समान रूप से कपिलवस्तु के संस्थागार में एकत्र होते थे। उनका एक निर्वाचित सभापति होता था। उसका निर्वाचन कैसे और किस अवधि में किया जाता था, यह अज्ञात है। यह सभापति राजा कहलाता था। डा० रीज डेविड्स ने यह भी स्वीकारा है कि वह सर्वोच्च सत्ताधारी राजा न था, अपितु एक स्थान पर भद्दिय को राजा कहा गया है, जब कि दूसरे स्थान पर शुद्धोधन को साधारण व्यक्ति के समान लिखा गया है।[86]

इस प्रकार रीज डेविडस के अनुसार शाक्य राज्य कुलीन गणराज्य था जिसमें सर्वोच्च सत्ता शाक्य कुलों की सभा में निहित थी और जिसका प्रधान निर्वाचित होता था।

---

85. सुमंगलवासिनी, 2/519।
86. डा. रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. 19।

डा० के. पी. जायसवाल ने अपनी पुस्तक हिन्दू पालिटि में शाक्य कुलों को सभा न मानकर उसे राज्य सभा का दर्शा दिया है शेष अन्य बातों में वे रीज डेबिट्स से सहमत है।[87]

डा० अल्तेकर ने अपनी पुस्तक 'स्टेट एण्ड गर्वनमेन्ट इन एनशियन्ट इण्डिया में लिखा है, 'शाक्य राज्य गणराज्य था और भद्दिय सम्भवतः उसी प्रकार का राजा था जिस प्रकार लिच्छवि राज्य में अनेक राजा थे। शाक्यों के संस्थागार का उल्लेख प्राप्त है, परन्तु वंशानुक्रमिक राजतन्त्रात्मक राजा होने का कोई संकेत नहीं मिलता।[88]

पहले भी शाक्यों की परिषद का उल्लेख आया है। जिसमें ललित बिस्तार के अनुसार परिषद की सदस्यों की संख्या 500 थी।[89] परन्तु इनकी नियुक्ति के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य मौन है।

उपर्युक्त विवरण स्पष्ट करता है कि शाक्य राज्य में राज्य सम्बन्धी कार्य सर्व सम्मति से अथवा बहुमत द्वारा किये जाते थे। उपर्युक्त प्रणाली यह भी स्पष्ट करती है कि उस समय में गणतन्त्र तो था परन्तु राजा का भी अस्तित्व था। राजा का पद सर्वोच्च नहीं था अपितु सभी शाक्य वंशीय समान सम्मान के अधिकारी थे।

इसी प्रकार लिच्छवियों के सम्बन्ध में डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है, लिच्छवि—राज्य की शासन पद्धति गणतन्त्र थी। उसमें कोई वंशानुक्रमागत राजा नहीं होता था। राजा की शासन शक्ति लिच्छवि जनता मैंनिहित थी।[90]

कौटिल्य अर्थशास्त्र भी लिच्छवियों के बारे में स्पष्ट करता है :

"लिच्छविक वृज्जिक कुकुर कुरु पान्वालादयो राजशब्दोपजीविनः संघा।"[91]

इसका अभिप्राय यह है कि लिच्छवि लोगों में प्रत्येक अपने को राजा समझता था। ललिताविस्तार में 'राजशब्दोपजीवी' शब्द का अर्थ अधिक स्पष्ट किया है :

---

87. डा. के. पी. जायसवाल, हिन्दू पालिटि, पृ. 44।
88. डा. अल्तेकर, स्टेट एण्ड गर्वनमेंट इन एनशियन्ट इण्डिया, पृ. 112।
89. ललितविस्तार, पृ. 135-137।
90. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ. 99।
91. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 11-1।

"नोच्च मध्य वृद्ध ज्येष्ठानुपालिता एकेक भन्यते अहं राजा अहं राजति न च कस्यचित शिष्यत्वमुपथच्छति ।"[92]

अर्थात् वैशाली के निवासियों में उच्च, मध्य, वृद्ध तथा ज्येष्ठ आदि के भेद का विचार नहीं किया जाता था। वहाँ प्रत्येक आदमी अपने बारे में यही समझता था कि 'मैं राजा हूं, मैं राजा हूं।' कोई किसी से छोटा होना स्वीकृत नहीं करता था। इससे विदित होता है कि इन सामन्तों को अपने सामन्तता में पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। जातक 149 में आया है, और जैसा कि पूर्व भी लिखा है, लिच्छवि गणराज्य में 7707 सामन्तों में बंटा हुआ था और प्रत्येक सामन्त अपनी सामन्तता के आन्तरिक शासन प्रवन्ध में अपरिति स्वतन्त्रता रखता था। चूंकि प्रत्येक सामन्त गणराज्य की सभा का सदस्य मात्र था और उसको गणराज्य की सभा से ही अपनी सामन्तता के अधिकार प्राप्त थे इसलिये उसे स्वतन्त्र राजा की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सभा का कार्य बहुमत के द्वारा होता था जिसका प्रमाण सेनापति सिंह की निर्वाचन द्वारा नियुक्ति तथा आम्रपाली की कथा से मिलता है।

उपरोक्त विवरण यह स्पष्ट करता है कि लिच्छवि राज्य ऐसा राज्य था जिसमें 7707 सामन्तों को राज्यसभा की सदस्यता और मताधिकार प्राप्त था और उन सामन्तों की सभा में शासन की सर्वोच्च सत्ता निहित थी। सभा के सदस्य प्रजा के बीच के व्यक्ति थे। अतः यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च सत्ता का वास प्रजा अथवा नागरिकों में था।

विदेहों में इस प्रकार का उदाहरण मिलता है कि राजा जनक के शासन की ओर से उदासीन हो जाने के बाद जनता ने उसकी हत्या कर गणतन्त्र स्थापित किया था। इससे स्पष्ट है कि जिस समाज की जनता अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति इतनी जागरुक हो वहां सम्प्रभुता का वास किसी व्यक्ति विशेष में पाया ही नहीं जा सकता। जनता किसी व्यक्ति विशेष को निर्वाचित करके सम्प्रभु का आवरण पहना सकती है परन्तु ऐसा उसी अवस्था में होगा जब निर्वाचित सम्प्रभु जनता की आवश्यकताओं का ध्यान रखे।

मगध में साम्राज्यवाद :

भारत के जनपदों में साम्राज्य-बिस्तार की प्रवृति बहुत प्राचीनकाल से ही विद्यमान थी। मध्यदेश के कुरु, पान्चाल, कौशल आदि जनपदों के राजा अन्य

---

92. ललितविस्तार, अध्याय-3-29।

जनपदों से अपनी अधीनता स्वीकृत कराके सार्वभौम व चक्रवर्ती पद प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील थे, तो मगध जैसे प्राच्य जनपद के राजा अन्य जनपदों का मूलोच्छेद करके स्वराट व सम्राट बनने के लिये यत्न कर रहे थे।[93] डा. विनोदचन्द्र सिन्हा ने भी इस सन्दर्भ में लिखा है, प्राचीन भारतीय इतिहास में मगध के शासकों की वही प्रभुता रही है। प्रारम्भ से ही उन्होंने साम्राज्य विस्तार की नीति का अनुसरण किया। महाभारत के समय मगध के नरेश जरासन्ध ने अनेक राजाओं को विजित करके अपने अधीन बना लिया था महात्मा बुद्ध के समय मगध के राजा बिम्बसार और अजातशत्रु भी बड़े शक्तिशाली थे। उन्होंने भी साम्राज्यवादी नीति का पालन किया।[94]

मगध सदृश प्राच्य जनपदों की साम्राज्य विस्तार-सम्बन्धी इस प्रवृति का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में भी विद्यमान है। वहां लिखा है—प्राच्य दिशा में प्राच्यों के जो राजा है, उनका अभिषेक साम्राज्य के लिये ही होता है। अभिषिक्त होने पर वे सम्राट कहाते हैं। महाभारत के समय के दीर्घ और जरासन्ध इसी प्रकार के मगध राजा थे. जिन्होंने कि सम्राट पद प्राप्त किया हुआ था। चक्रवर्ती और सार्वभौम पद की प्राप्ति के लिये तो भारत के सभी आर्य राजा प्रयत्नशील रहा करते थे, पर सम्राट पद की प्राप्ति प्राच्य राजाओं की ही विशेषता थी। वस्तुत: मगध के राजाओं ने भारत के इतिहास में एक नये प्रकार के साम्राज्यवाद का प्रारम्भ किया।[95]

जरासन्ध के बाद मगध के अन्य राजाओं ने भी उसकी नीति का अनुसरण किया। बिम्बसार, अजातशत्रु, उदायिभद्र, नागदसक और महापद्म नंद के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। पुराणों में महापद्म नन्द को 'एकराट' 'एकच्छत्र' 'अंतिबल' और सर्वक्षत्रान्तक' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। मगध के अन्य राजा भी इसी प्रकार के थे। इन्हीं मगध राजाओं ने धीरे-धीरे भारत के अन्य गणतन्त्र राजतन्त्र जनपदों को परास्त कर देश के बड़े भाग में अपना एकछत्र 'अनलंघित शासन' स्थापित कर लिया।[96]

---

93. डा. सत्यकेतु विद्यादंका, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति और राज्य व्यवस्था, पृ. 90।
94. डा. विनोदचन्द्र सिन्हा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 63।
95. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 83।
96. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति और राज्य व्यवस्था, पृ. 91।

मौर्य साम्राज्य के उत्कर्ष से पूर्व मगध में तीन वंशों क्रमशः शासन किया हर्यंक, शिशुनाग, नन्द वंश ने शासन किया।

हर्यांक वंश :

महात्माबुद्ध के समय लगभग 544 ई. में बिम्बसार गद्दी पर बैठा। जैन ग्रन्थों में इसे श्रेणिक कहा है। पुराण बिम्बसार शिशुनाग वंश का शासन कहते हैं। उनके अनुसार शिशुनाग नामक राजा पहले हुआ जिसने एक नवीन वंश की स्थापना की। बिम्बसार उसी वंश का था और बाद में सिंहासनासीन हुआ। बौद्ध साहित्य इस सन्दर्भ में यह प्रमाण देता है कि शिशुनाग वंश से बिम्बसार का का कोई सम्बन्ध नहीं था। बिम्बसार हर्यंक वंश का था और हर्यंक कुल के पतन के पश्चात ही शिशुनाग नामक एक व्यक्ति ने अपने नवीन कुल की स्थापना की। अधिकांश विद्वानों ने द्वितीय मत के समर्थन में अपने उद्‌गार प्रस्तुत किये हैं। अतः यह माना जाता है कि बिम्बसार शिशुनाग से पूर्व हुआ था और वह शिशुनाग वंश का न था वरन हर्यंक वंश का था। डा. भंडारकर के मतानुसार बिम्बसार प्रारम्भ में एक सेनापति था, जिसने बज्जियों को परास्त करके स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। महावंश में बिम्बसार के सन्दर्भ में आया है कि उसने अपने पिता से गद्दी प्राप्त की। पुराणों में उसके पिता का नाम हेमजित क्षेत्रोजा मिलता है। विमलचन्द्र पाण्डेय ने लिखा है कि तिब्बती साक्ष्यों के अनुसार उसका नाम महापद्म था। टर्नर आदि विद्वानों के अनुसार उसका नाम भातिय अथवा भट्टि था।[97]

बिम्बसार बहुत महत्वाकांक्षी तथा शक्तिशाली राजा था। कौशल की राजकुमारी कौशलदेवी से विवाह करके उसे काशी प्राप्त हुआ था। पश्चिम की ओर से निश्चिन्त होकर उसने अंग महाजनपद राजा ब्रह्मदत्त पर आक्रमण किया, और उसे जीत कर अपने अधीन कर लिया। इससे कुछ समय पहले अंग को वत्स के राजा अपने अधीन कर चुके थे। अवसर पाकर वह स्वतन्त्र हो गया था। बिम्बसार अंग से केवल अधीनता स्वीकार कराके सन्तुष्ट न हुआ, अपितु मगध की पुरानी परम्परा का अनुसरण करके उसने ब्रह्मदत्त को मारकर अंग को मागध साम्राज्य में मिला लिया। अंग को विजित कर लेने के पश्चात मगध की शक्ति बहुत बढ़ गई। मगध की पुरानी राजधानी गिरिब्रज थी जिस पर बज्जियों

97. विमलचन्द्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 346।

के निरन्तर आक्रमण होते रहते थे। बिम्बसार ने गिरिव्रज के उत्तर में एक नये नगर राजगृह की स्थापना की जिसे उसने राजधानी बनाया।

बिम्बसार के पश्चात उसका पुत्र अजातशत्रु मगध का सम्प्रभु बना। ऐसी मान्यता है कि उसने अपने भाई दर्शक एवं पिता की हत्या करवा दी थी। अजातशत्रु दुर्धर्व साम्राज्यवादी था। उसने अपने सफल युद्धों के फलस्वरूप मगध शक्ति को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया। सर्व प्रथम उसका कौशल महाजनपद के साथ युद्ध हुआ। चिरकाल के संघर्ष के बाद मगध लौर कौशल में सन्धि हो गई और सन्धि को स्थिर रखने के लिए कौशल के राजा प्रसेनजित ने अपनी पुत्री बजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया।

कौशल से मैत्री हो जाने के पश्चात अजातशत्रु ने उत्तर के पड़ोसी वैशाली के शक्तिशाली राज्य बज्जि संघ की स्वतन्त्रता का अन्त करने के कार्यक्रम बनाये। बौद्ध ओर जैन साहित्य में में इस युद्ध के अलग-अलग कारण बताये गये हैं। जैन साहित्य के अनुसार बिम्बसार के वैशाली की लिच्छवि राजकुमारी से हल्ल और बेहल्ल नामक दो पुत्र थे। बिम्बसार ने इन्हें अपना हाथी सेचनक और बहुमूल्य जवाहरातों की 18 लडियों की माला उपहार में दी थी। राजा बनने के बाद अजातशत्रु ने इस उपहारों को वापस मांगा। हल्ल और बेहल्ल ने वापस करने से इन्कार कर दिया और अपने क्रूर भाई से बचने के लिए वे अपने नाना चेटक के पास आ गये। इसके फलस्वरूप चेटक के राज्य वैशाली पर धावा बोल दिया। बौद्ध साहित्य के अनुसार मगध और वज्जि राज्य के बीच गंगा बहती थी। इस नदी पर बन्दरगाह था और उसके समीप एक खान थी। एक पुराने समझौते के अनुसार बन्दरगाह और खान के बराबर के हिस्सेदार दोनों राज्य थे। परन्तु बहुत समय से बज्जिसंघ मगध को इसका उपयोग नहीं करने दे रहा था। अतः इस बात से प्रेरित होकर अजातशत्रु ने युद्ध किया।

वज्जिसंघ में आठ संगठित गणराज्य थे जिसके फलस्वरूप उनकी शक्ति असीमित थी एवं उनको सीधे युद्ध में हरा पाना अजातशत्रु के वश की बात नहीं थी। अतः उसने अपने मन्त्री वर्णकार के परामर्श से भेदनीति का आश्रय लिया। वर्णकार ने बज्जिसंघ में जाकर फूट डाल दी और अजातशत्रु ने आक्रमण कर दिया। ऐसे समय में लिच्छवि टिक नहीं पाये। जैन अनुश्रुति के अनुसार काशी और मल्ल जनपद ने इस युद्ध में बज्जियों को सहायता प्रदान की थी। सम्भवतः बज्जिसंध के साथ ही काशी और मल्ल जनपद भी इस समय मगध के साम्राज्यवाद का शिकार हो गये। अजातशत्रु ने उन्हें परास्त कर मगध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। 456 ई. पू. के लगभग अजातशत्रु

के शासन का अन्त हुआ। तब तक अंग, वज्जि, काशी और मल्ल महाजनपद मगध की अधीनता में आ चुके थे और वह भारत का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य बन गया था।[98]

अजातशत्रु के बाद मगध का राजा दर्शक हुआ बौद्ध एवं जैन साहित्य उदायी को अजातशत्रु के बाद उसका शासक मानते हैं तथा यह मत प्रस्तुत करते है कि उदायी अजातशत्रु का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उदायी के बाद अनुरुद्ध और मुण्ड क्रमशः राजा हुये। परन्तु ये राजा साम्राज्य विस्तार की दृष्टि से मगध के साम्राज्य में कुछ अतिरिक्त नहीं बढ़ा पाये। मुण्ड के बाद अन्तिम हर्यक वंशज राज्य नागदासक था।

शिशुनाग वंश :

दीपवंश और महावंश का कथन है कि पौरों, अमात्यों और अमात्य मन्त्रियों ने नागदासक को सिंहासन से उतार दिया और उसके अमात्य शिशुनाग को राजा बनाया। डा० रायचौधरी के मतानुसार शिशुनाग अन्तिम मगध नरेश के शासन-काल में सम्भवतः बनारस का बामसबराय था। अपनी योग्यता के कारण ही सम्भवतः इसने अन्यान्य पदाधिकारियों और मन्त्रियों कोअपने प्रभाव में कर लिया होगा और उन्हीं की सहायता से अपने स्वामी को पदच्युत करवा कर स्वयं सिंहासन पर बैठा होगा।[99]

पुराणों का कथन है कि शिशुनाग ने अपने लड़के को वाराणसी में नियुक्त किया और स्वयं गिरिव्रज चला गया। (वाराणस्यां सुतं स्थाप्य संयास्ति गिरिव्रज)। इस कथन से प्रकट होता है कि मगध का राजा बनने पर उसने अपने पुत्र को काशी का उपराजा बनाया और पाटलिपुत्र के बजाय गिरिव्रज को अपनी राजधानी बनाया। महावंश टीका में उल्लेख है कि शिशुनाग वैशाली के लिच्छवि राजा और नगर शोभनी का पुत्र था। वैशाली से लगाव होने के कारण शिशुनाग ने वैशाली नगर को पुनःस्थापित किया और वहां राजगृह बनवाया।[100] शिशुनाग के समय की सबसे महत्वपूर्ण घटना अवन्ति महाजनपद का मगध-साम्राज्य में सम्मिलित होना है। शिशुनाग ने समय में अवन्ति में अवन्तिवर्धन

98. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य सामाज्य का इतिहास, पृ० 92-94।
99. विमलचन्द्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पृ० 351।
100. प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी, मौर्य साम्राज्य का सांस्कृति इतिहास, पृ० 13-14।

शाशक था। शिशुनाग ने उसे आक्रमण कर और उसे मारकर अवन्ति को मगध साम्राज्य में मिला लिया। पुराणों में उल्लिखित है कि शिशुनाग प्रद्यातों का विनाश करेगा। इस विजय ने मगध को उत्तर भारत में सर्वोपरि बना दिया। शिशुनाग के शासनकाल की दूसरी महत्वपूर्ण घटना वैशाली की दूसरी बौद्ध संगीति थी।

शिशुनाग के बाद उसका पुत्र काकवर्ण मगध का राज्य हुआ जो कि युवराज काल में काशी जनपद का उप-शासक रह चुका था। सिंहली गाथायें शिशुनाग के उत्तराधिकारी का नाम कालाशोक[101] बताती है। ऐसा प्रतीत होता है कि काकवर्ण और कालाशोक एक ही व्यक्ति थे। कालाशोक ने वैशाली से हटाकर पुनः पाटलि-पुत्र को राजधानी बनाया। सिंहली महाकाव्यों के अनुसार कालाशोक के शासन-काल के दसवें वर्ष में द्वितीय बौद्ध संगीति हुई यदि कालाशोक और काकवर्ण एक ही व्यक्ति हैं तो गले में तलवार भोंक कर उसकी हत्या कर दी गई थी। जैसा कि बाण ने हर्षचरित में उल्लेख किया है :

> 'आश्चर्य कूलूहली च दण्डोपनतयवनविमितेन नमस्ततउयिना यंत्रयानेनानी-यत क्वापि काकवर्णः शैशसनागिश्च नगरोसकण्ठे कण्ठे निचकृते निस्त्रिंशेन —षष्ठ उच्छवास।'

महावंश के अनुसार काव्यवर्ण ने 28 वर्ष तक शासन किया। बोधि बशां द्वारा ज्ञात होता है कि काकवर्ण के दस पुत्रों ने सम्मिलित रूप से लगभग 22 वर्ष तक शासन किया। पुराणों के अनुसार शैशुनाग वंश में कुल दस राजा हुये जिनमें अन्तिम महानन्दि था।

नन्द वंश :

महाबोधिवंश के अनुसार प्रथम नन्द राजा का नाम उग्रसेन था। पुराणों न महापद्य-उग्रसेन को शूद्रमाता के गर्भ से उत्पन्न हुआ बताया है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्रथम नन्द राजा ने ही कालाशोक की हत्या की थी। बाद में उसके पुत्रों को भी समाप्त करके वह स्वयं राजा बन बेठा।[102] इसी सन्दर्भ में प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी ने लिखा है, 'अनुमान होता है शूद्राजात होने से महा-पद्मनन्द उत्तराधिकार का स्वत्व नहीं रखता था, इसलिये षडयन्त्र द्वारा ही उसने राज्य का अपहरण किया। जिस कारण पुराणों में उसे शूद्र एवं अधार्मिक कहा

---

101. महावंश, पृ० 15।
102. डा० विनोदचन्द्र सिन्हा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 66-67।

गया है।[103] नन्दवंश की उत्पति किसी भी प्रकार की रही हो परन्तु सभी प्राचीन साक्ष्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि प्रथम नन्द राजा महापद्म महाबली और उसके शासन का कोई अतिक्रमण कर सका था पुराणों के स्वर में वह अनुल्लंघित शासन वाला था, जिसने दिग्विजय द्वारा एकछत्र राज्य स्थापित कर 'एकराट्' का पद प्राप्त कर लिया था। अनेक क्षत्रिय राजवंशों का उन्मूलक होने के कारण उसे 'अखिलक्षत्रान्तकारी' और क्षत्रविनाशकृता कहा गया है।[104] डा० राधाकुमुद मुकर्जी के शब्दों में महापद्मनन्द उत्तर भारत का प्रथम महान ऐतिहासिक सम्राट था। जिसने विशाल मएध साम्राज्य की स्थापना की। पर्जिटर के अनुसार प्रथम नन्न ने शैशुनागों के समकालीन राजवंशों इक्ष्वाकु, पांचाल काशेय हैहय, कलिग, अशमक कुरु, मैथिल, शूरसेन और बीतिहोत आदि को उत्खनित किया।[105] राय चौधरी ने भी लिखा है कि उसने तत्कालीन समस्त प्रमुख राजवंशों को पराजित किया इसमें इक्ष्वाकु, कुरु, पांचाल, काशी, मैथिल, हैहय, कलिग, अशमक तथा शूरसेन आदि आते हैं।[106] इन राज्यों के नन्द द्वारा पराजित होने की बात कलिग राज वृत्तान्त में इस प्रकार लिखी है :

एक्ष्वाकांश्चं पांचालान् कोरव्याश्च हैहयान्
कालकानेकलिंगाश्च शूरसेनाश्च मथिलान्
जित्वा चान्यांश्च भूपलान द्वितीय इव मार्गवः।

हाथी गुम्फा का अभिलेख यह जानकारी देता है कि नन्द राजा ने कलिग पर आक्रमण किया और वहां पर एक नहर अथवा बांध का निर्माण कराया था तथा वहां से जैन तीर्थंकर की एक बहुमूल्य मूर्ति उठवाकर अपनी राजधानी ले आया था। अवन्ति राज्य पहले ही मगध राज्य में मिल गया था। कौशल राज्य भी सम्भवतः इस समय मगध साम्राज्य के भीतर सम्मिलित किया गया। कथासरितसागर यह उल्लेखित करती है कि अयोध्या में नन्द राजा का शिविर लगा था।

कर्टियस और डियोडोरस ने भी नन्दों की प्रबल शक्ति के सम्बन्ध में लिखा है। कथासरितसागर में सम्राट नन्द के कोष में 99 करोड़ स्वर्ण मुद्राओं के होने का उल्लेख है। इन विवरणों से प्रमाणित होता है कि महापद्म नन्द के पास एक विशाल सेना और अपार धनराशि थी। वायु पुराण के अनुसार उसने 28 वर्ष

103. प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी, पूर्वाक्त, पृ० 15।
104. प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी, पूर्वाक्त, पृ० 15-16।
105. पार्जिटर, डायनेस्टी आफ काली एज, पृ० 29।
106. राय चौधरी, पालिटिकल हिस्ट्री आफ एनशियन्ट इण्डिया, पृ० 155।

तक शासन किया। तत्पचात उसके 8 पुत्रों ने 12 वर्ष तक शासन किया। सम्भवतः यूनानियों का अग्रमिज नन्दों का अन्तिम शासक घननन्द था। इसका विनाश चन्द्रगुप्त और और चाणक्य ने मिलकर किया। नन्दों का अन्त दुखदायी रहा। फिर भी इतिहास में इस वंश का महत्वपूर्ण स्थान है।[107]

सम्प्रभुता की अवधारणा :

साम्राज्यवाद की नीति ने राजा की स्थिति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया। अब राजा स्वेच्छारिता और निरंकुशता से व्यवहार करने लगा था। वैदिक युग में जिस प्रकार प्रजा द्वारा चुना हुआ व्यक्ति ही राजा हो सकता था, वह स्थिति अब समाप्त-सी प्रतीत होती है। उस समय में राज्य का प्रतिनिधित्व राजा द्वारा होता था। राजा के द्वारा अपनाई गई नीति किसी धर्म विशेष के अनुसार संचालित नहीं होती थी, बल्कि वह सभी धर्मों को हितों का एक विशेष स्थिति तक ध्यान रखता था। धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार करते हुये राजा धर्म पर अपना प्रमुत्व ·खता था। आज के समय में सम्प्रभुता मुख्य रूप से कानून बनाने तथा उनको लागू करने की शक्ति, समूहों को आज्ञा प्रदान करने की क्षमता धर्म को नियन्त्रित करने तथा सामाजिक जीवन की मुख्य दिशाओं को निर्देशित करने आदि में निहित हैं। सम्प्रभु शक्ति का यही रूप तत्कालीन राजा के माध्यम से भी व्यक्ति होता था।

इस प्रकार ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि सम्प्रभुता सम्भवतः राजा में निवास करने लगी, किन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं थी। साम्राज्यवाद के काल में राजा शक्तिशाली और स्वयंभू अवश्य बना, परन्तु अन्तिम रूप से प्रजा द्वारा अन्यायी और अत्याचारी राजा का नाश अब भी सम्भव था। इस प्रसंग में हर्यंक वंशीय राजा नागदासक का उदाहरण उल्लेखनीय है। राजा नागदाशक अन्यायी और अत्याचारी था। अतः उसके पौरों और अमात्यों ने उसको पदच्युत कर उसके अमात्य शिशुनाग को राजा बनाया। इस घटना से प्रजा के अन्तिम अधिकार का बोध होता है। नन्द वंश के सन्दर्भ में डा० सत्यकेतु विद्यालंकर ने लिखा है, सम्भवतः महापद्म का उत्तराधिकारी नन्द राजा जनता में अधिक लोकप्रिय नहीं था। धन और शक्ति के गर्भ में चूर होकर वह प्रजा की परवाह नहीं करता था और उसे समुचित आदर प्रदान नहीं करते थे।[108]

---

107. डा० विनोदचन्द्र सिन्हा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 66।
108. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, प० 99।

उपर्युक्त सन्दर्भ भी यह स्पष्ट करता है कि तत्कालीन मान्यता के अनुसार राजा को प्रजा के हितों का स्मरण रखना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार भी राजा को चाहिए कि वह प्रजा के सुख में सुख और प्रजा के हित में ही अपना हित समझे। बात तो यह है कि राजा का अपना प्रिय और हितकारी कोई कार्य पृथक नहीं होता। अतः अपने आपको प्रिय लगने वाला कार्य न करके प्रजा को प्रिय लगने वाला कार्य राजा को करना चाहिये।

मगध में साम्राज्यवाद के काल में बहुत तेजी नये नये वंशों का उदय और पतन हुआ। उनके पतन का एकमात्र कारण राजा द्वारा प्रजा के हितों की अवहेलना था। सम्पूर्ण भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब प्रजा पर राजा द्वारा अत्याचार हुआ उसका परिणाम जनता के विद्रोह के रूप में सामने आया। इस प्रकार बाह्य रूप से भले ही हमें यह दिखलायी देता हो कि साम्राज्यवाद के समय राजा ही अत्यधिक शक्तिशाली होता था किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वास्तविक सम्प्रभुता उसी में निहित थी; सम्प्रभुता निश्चित रूप से जनता में निहित थी।

अध्याय 5

मौर्य काल में सम्प्रभुता

मौर्य राजवंश :

चौथी सदी ई० पू० का समय भारतीय इतिहास में ही वरन् विश्व के इतिहास में एक महत्वपूर्ण काल है। इसी समय ग्रीस के नगर राज्यों का अन्त हुआ और मकतूनिया के नेतृत्व में वहां एक संगठित साम्राज्य की स्थापना हुई। लगभग इसी समय मध्य पूर्व में फारसी साम्राज्य का पतन हुआ और योराप में रोम का एक प्रबल शक्ति के रूप में उत्कर्ष हुआ। इसी काल में भारत में भी ऐसे विशाल और संगठित साम्राज्य की स्थापना हुई जैसा पहले नहीं सुना गया।[1] डा. पानिक्कर ने भी लिखा है, 'इसी समय योरोप, मध्य-पूर्व और भारतीय इतिहास की भावी रुपरेखा स्थिर हुई।[2]

भारतीय इतिहास में मौर्य-साम्राज्य का अत्यधिक महत्व आंका जाता है। मौर्यों से पूर्व का भारत किसी निश्चित तिथि के अभाव में अस्पष्ट सा समझा जाता है। मौर्य काल से ही एक निश्चित तिथि-क्रम का आरम्भ हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य के सिहांसनारोहण की तिथि का देशीय साक्ष्यों को आधार मानते हुये विद्वानों द्वारा जो प्रतिपादन किया गया है उन्हें सत्य के निकट कहा जा सकता है। डा. विमलचन्द्र पाण्डेय ने लिखा है भारतीय इतिहास की घटनाओं का कालक्रस अर्न्तराष्ट्रीय घटनाओं के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। यही नहीं, मौर्य साम्राज्य का एक और महत्व है। राजनीतिक एकीकरण का जो कार्य हर्यकवंशीय नरेशों ने प्रारम्भ किया था उसे मौर्यों ने पूर्ण किया। इनके समय में भारत वर्ष का अधिकांश भाग एक सुदृढ़ राजनीतिक सूत्र में बंध गया। इस एक छत्र एकता के कारण हमारा इतिहास वास्तविक अर्थ में भारतीय हो गया।[3]

---

1. डा. विनोदचन्द्र सिन्हा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 74।
2. डा. पनिक्कर, ए सर्वे आफ इन्डियन हिस्ट्री, पृ० 25।
3. डा. विमलचन्द्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 376।

चन्द्रगुप्त मौर्य :

ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी के तीसरे दशक में भारत की राजनीति में अग्रमीज, आंभि, पोरस आदि जिन बहुत से राजाओं का बोलबाला था, वे इस देश की समस्याओं के प्रति किसी प्रकार की जागरुकता या इसके भविष्य के किसी प्रकार के बोध का परिचय नहीं दे रहे थे। नवोदित मगध साम्राज्य को कायम रखने और उसकी श्री-समृद्धि की वृद्धि करने, विदेशी खतरे का सामना करने, अस्त व्यस्त भारत के असंख्य टुकड़ों को जोड़कर एक करने और इस प्रकार 'चक्रवर्ती' के आदर्श को व्यावहारिक राजनीति में एक वास्तविकता के रूप में प्रतिष्ठित करने भारतीयों को विभिन्न कार्य क्षेत्रों में एक महान प्रयत्न करने के लिए उत्साह से अनुप्राणित करने और इस देश को राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टियों से बाहरी दुनियां के सम्पर्क में लाने—इन सबके लिये किसी परम पुरुषार्थी और पराक्रमी व्यक्ति की आवश्यकता थी और इस देश का सौभाग्य था कि शीघ्र ही इसे ऐसे पराक्रमी पुरुष मिल गया। अगर प्लूटार्क और जस्टिन की बातों पर विश्वास करे तो जब (326-25 ई. पू. में) सिकन्दर पंजाब में था, उस समय एक सामान्य कुलीत्पन्न किशोर उससे मिलने आया था, जिसके विषय में अनुश्रुतियों के ऐसे लक्षणों की चर्चा है, जो उसके उज्जवल भविष्य की सूचना देते हैं। इस व्यक्ति ने देश की तत्कालीन वस्तुस्थिति को, जिसने निश्चय ही जनमानस को निराशा से भर दिया होगा पूर्णतः बदल देने की महनीय योजना बनायी। लगभग चौथाई सदी तक यह व्यक्ति इस देश पर छाया रहा, उसके बाद कई पीढ़ियों तक देश को चन्द्रगुप्त द्वारा बनाये गये रास्ते पर चलना था।[4]

मौर्य राजवंश का प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य था। चन्द्रगुप्त को यूनानी लेखकों ने भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा है। जास्टिन[5] तथा स्ट्रैबो ने इसे सैण्ड्राकोटस के नाम से पुकारा है। इसी नाम से एरियन ने पुकारा है। प्लुटांक ने इसे एण्डोकोटस कहा है।[6] मुद्राराक्षस में इसको चन्द्र श्री, प्रियदर्शी तथा वृषल कहा गया है। यह सम्भवतः उसके उपनाम हो सकते हैं।[7] स्ट्रोबो के अनुसार सैण्ड्रोकोटस (चन्द्रगुप्त ने पालिब्रोथस (पाटलिपुत्र) उपनाम धारण किया था। यद्यपि इस सम्बन्ध में कुछ भी निर्णय लेना कठिन जान पड़ता है कि उसने ऐसा

---

4. नीलकण्ठ शास्त्री, नन्द-मौर्य युगीन भारत, पृ० 145।
5. जस्टिन (मैक्रिण्डैल) दी इन्वेजन आफ इण्डिया बाल अलेक्जाण्डर दी ग्रेट, पृ० 327।
6. प्लूटार्क, प्लूटार्कलाइव्स, पृ. 490।
7. मुद्राराक्षस, हरिदास सिद्धान्तवागीश, पृ. 42-374।

उपनाम क्यों धारण किया था, फिर भी इसके अनेक नामों का उल्लेख हमें भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य में मिलता है जो इसके बहुश्रुत तथा कीर्ति-प्रमुख होने का परिचायक है।[8]

चन्द्रगुप्त के वंश और प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में अनुश्रुतियों में परस्पर बड़ा विरोध है। एक अनुश्रुति के अनुसार वह अन्तिम नन्द राजा की शुद्रा रखैल मुरा का युत्र था और इसलिये मौर्य कहलाया। वक्षवंश के अनुसार चन्द्रगुप्त का जन्म शाक्यों की प्रसिद्ध शाखा मोरिय जाति में हुआ था। दिव्यावदानी में मौर्यों को स्पष्ट रूप से क्षत्रिय घोषित किया गया है। जैन साक्ष्य भी चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय मानते हैं। यही मत ठीक जान पड़ता है। ग्रीक इतिहासकार जास्टिन ने चन्द्रगुप्त को साधारण कुल का बताया है किन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि वह शूद्र था। ऐसा लगता है कि चन्द्रगुप्त एक साधारण क्षत्रिय परिवार का था जिसका मगध के राजवंश से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। जास्टिन के अनुसार सिकन्दर के निधन के बाद भारत को ऐसा लगता है कि परतन्त्रता के जुये को अपनी गर्दन से उतार फेंका और यूनानी राज्यपालों को मौत के घाट उतार दिया। इस स्वतन्त्रता का नेता सैंक्ट्रोकोटस (चन्द्रगुप्त) था। इस व्यक्ति का जन्म सामान्य परिवार में हुआ था किन्तु दिव्य प्रेरणा से उसे राजशक्ति प्राप्त करने का प्रोत्साहन मिला था! इसके बाद उसने लुटेरों का एक गिरोह अपने साथ तैयार किया और भारतीय जनता को तत्कालीन (यूनानी) राज्य को पलट देने की प्रेरणा दी।[9]

चन्द्रगुप्त का सर्वप्रथम उल्लेख इतिहास पुरुष के रूप में (326-25 ई. पू.) में आता है। इस समय उसका सिकन्दर से सामना होता है। जास्टिन ने इस तथ्य का उल्लेख किया है। हो सकता है चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को पूर्वी भारत की स्थिति का आभास दिया हो। उसने सिकन्दर से बाद में यह भी कहा था कि सिकन्दर थोड़े से साहस और प्रयत्न से ही इस देश का स्वामी बन सकता है, क्योंकि यहां के राजा की दुर्वृत्तियों और नीच कुल के कारण उसकी प्रजा उससे घृणा करती है।[10] जास्टिन ने यह भी लिखा है कि जिस ढंग से यह बात चन्द्रगुप्त ने उससे कहीं भी उससे वह अत्यधिक नाराज हुआ और उसने उस भारतीय

---

8. प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी, मौर्य साम्राज्य का सांस्कृति इतिहास, पृ. 30।
9. डा. विनोदचन्द्र सिन्हा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 75।
10. जास्टिन मैक्रिण्डेल, दी इन्वेज आफ इण्डिया बाई अलेक्जाण्डर दी ग्रेट पृ. 311।

युवक को मार डालने का आदेश दिया। लेकिन वह बड़ी तीव्र गति से भाग निकला।[11]

सिकन्दर के लौटने के बाद चन्द्रगुप्त ने एक सेना निर्माण किया। चन्द्रगुप्त की सेना का उल्लेख जास्टिन ने भी किया है। उन्होने उन सैनिकों को पंजाब के गणतन्त्र का निवासी बताया है। हिमालीय राजा पर्वतक से भी चन्द्रगुप्त ने मित्रता की थी। चन्द्रगुप्त ने सैनिक संगठन कर लेने के पश्चात स्वयं को राजा घोषित किया और तदुपरान्त उसने सिकन्दर के प्रतिनिधियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। जिसमें उसने विजयश्री को वरण किया। चन्द्रगुप्त ने 321 अथवा 323 ई. पू. के पहले ही सिन्ध घाटी के निचले काठे में स्वातन्त्रय संग्राम आरम्भ किया था और उसे 317 ई. पू. में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी, क्योंकि उसी समय यूनानी क्षत्रप यूदेनों ने भारत को हमेशा के लिये छोड़ दिया। इस प्रकार 317 ई. पू. में चन्द्रगुप्त पंजाब तथा सिन्ध का शासक बन गया।[12]

पंजाब पर अपना अधिकार स्थापित कर लेने के पश्चात चन्द्रगुप्त ने नन्दों का उन्मूलन करने का सभल अभियान प्रारम्भ किया। इस सन्दर्भ में सबसे प्राचीन वर्णन मिलिन्दपन्हों में प्राप्त होता है। इसमें नन्दों और मौर्यों के युद्धों का वर्णन है। पुराण कारों लंका के इतिवृत लेखकों और कामंदकीय कीर्तिमार के वर्णन अपेक्षाकृत सरल है। इनमें नन्दो का अन्त कैसे हुआ और भूमि कैसे मौर्यों के अधिकार व आधीन आयी आदि का वर्णन है। किन्तु यशस्वी युवक को पृथ्वी (अथवा जंबुद्वीप) के राजा के रूप में अभिषिक्त करने का श्रेय एक ब्राह्मण मन्त्री कौटिल्य को दिया गया है, जिसके अन्य दो नाम विष्णुगुप्त और चाणक्य भी थे। इस युद्ध में चन्द्रगुप्त के सहयोगी थे चाणक्य और हिमालय का राजा पर्वतक या पर्वतेश्वर। मुद्राराक्षस में उल्लेख आया है कि पर्वतक की हत्या चन्द्रगुप्त की नीति के कारण विषकन्या द्वारा उसके मगध-विजय के तुरन्त पश्चात करा दी गई थी।

नन्दों की सेवा की अतुलता मिलिन्दपन्हों में उल्लेखित है। फेगस या फेगेलस नामक एक भारतीय राजा ने सिकन्दर से नन्द राजा का विवरण देते हुए कहा था कि उसकी सेवा में युद्ध के लिए सुशिक्षित और सुसज्जित 20,000 अश्व,

---

11. जास्टिन मैक्रिण्डेल, पूर्वोक्त, पृ. 327।
12. डा. रतिभानुसिंह नाहर, प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 262।

2 लाख पदाति, 2,000 हाथी और 4,000 रथ है।[13] इस सेना का सेनापति भट्टराज था। यद्यपि यह संख्या अतिरंजित है तथापि इतना निश्चित है कि महा-शक्तिशाली नन्दवंश का विनाश करने वाली मगधक्रान्ति बड़ी भयंकर रही होगी और इससे दोनों पक्षों को धन-जन की अपार हानि हुई होगी।

चन्द्रगुप्त आर्य के सिंहासनारोहण की तिथि 312 ई. पू. रखी जा सकती है। इस तिथि की पुष्टि केन्टन में रखे प्रसिद्ध चीनी लेख से भी होती है। पुरणों से भी इसी तिथि की पुष्टि की जा सकती है।

चन्द्रगुप्त ने पंजाब और मगध पर अधिकार करने के पश्चात सौराष्ट्र पर भी अधिकार किया जिसका प्रमाव रुद्रदामा का जूनागढ़ का अभिलेख है। कुछ अनुश्रुतियों से प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त ने दक्षिण भारत पर भी विजय प्राप्त की थी।

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात उसके सेनापति सैल्युकस ने पश्चिमी ऐशिया में अपना अधिकार जमा लिया और उसके उपरान्त उसने भारत विजय की कामना की। ग्रीक लेखकों के बिवरणों के अनुशीलन से इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि सैल्युक्स ने भारत पर आक्रमण किया था। सैल्युकस केवल सिन्ध नदी तक ही आ सका था और वहीं पर चन्द्रगुप्त का सामना करना पड़ा। इसमें वह पराजित हुआ। युद्ध का फल सैल्युकस के प्रतिकूल रहा होगा क्योंकि स्ट्रैबो से हमें पता चलता है कि सैल्युकस ने चन्द्रगुप्त से वैवाहिक सन्धि की ओर से सिन्धु नदी के कुछ प्रदेश दे दिये, जिनमें आधुनिक कन्दहार, काबुल, हिरात और बिलोचिस्तान आते हैं। इस प्रकार चन्द्रगुप्त की सीमा हिरात तक पहुंच गई। चन्द्रगुप्त ने भी सैल्यूकस को 500 हाथी दिये, जो उसके लिए भावी युद्धों में बहुत उपयोगी सिद्ध हुए होंगे।[14] इस प्रकार सैल्यूकस से सन्धि के परिणामस्वरूप काबुल, कन्दहार, हिरात और बिलोचिस्तान के प्रदेश चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में सम्मिलित हो गये।

चन्द्रगुप्त के साम्राज्य विस्तार का वर्णन करते हुए डा० बी० ए० स्मिथ ने लिखा है, 'दो हजार साल से भी अधिक हुये, जब भारत के प्रथम सम्राट ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त कर लिया था, जिसके लिये उसके ब्रिटिश उत्तरा-

---

13. प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी, मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 48।
14. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 135।

धिकारी व्यर्थ में ही आहें भरते रहे और जिसे सोलहवीं तथा सत्रहवी सदियों के मुगल सम्राट भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं कर सके थे।[15]

मुद्राराक्षस के विवरण से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त शैलेन्द्र हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक के सभी राजाओं का आश्रयदाता अथवा सम्राट था।[16] डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने चन्द्रगुप्त को उत्तरी पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत का विजेता स्वीकार किया है।[17] भगवती प्रसाद पांथरी ने भी चन्द्रगुप्त के विषय में लिखा है. 'यह प्रवीर चन्द्रगुप्त और उसके महामन्त्री चाणक्य के प्रयत्न का ही प्रतिफल था कि पहली बार हिन्दु कुश और हिमालय से लेकर पूरब में पंजाब, पश्चिम में सौराष्ट्र और विन्ध्याचल के पार मैसूर तक भारतीय साम्राज्य की सीमायें प्रसारित हो गई।[18]

पुराणों तथा बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने चौवीस वर्षों तक शासन किया और अनुमानत: ई. पू. 298-97 में उसकी मृत्यु हुई।[19] जैन अनुश्रुतियों द्वारा यह ज्ञात होता है कि जीवन के अन्तिम दिनों में वह जैन हो गया था। यद्यपि चाणक्य ने उसे ब्राह्मण धर्म त्याग कर जैन धर्म स्वीकार करने से रोकने के लिए बहुत प्रयास किया था। जैन परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त ने समाधि द्वारा अपनी जीवन लीला समाप्त की थी। जैसा कि परिशिष्ट पर्व में आया भी है।

'समाधिमरणं प्राप्य चन्द्रगुप्तों दिवं ययौ।'[20]

मंजु श्रीमूलकल्प के अनुसार चन्द्रगुप्त ने वहुत से प्राणियों का वध किया था। अतएव विषाक्त विस्फोट या व्रण से मूर्छित होकर उसकी मृत्यु हुई थी।[21]

विन्दुसार :

298 ई० पू० में चन्द्रगुप्त के पश्चात उसका पुत्र बिन्दुसार अपने पिता के विशाल राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। जिस समय चन्द्रगुप्त ने उसे राज्य दिया

---

15. डा. बी० ए० स्मिथ, दी अर्लि हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० 126।
16. मुद्राराक्षस ग्रंक 3-19।
17. डा० आर० एस० त्रिपाठी, एनशियन्ट इण्डिया, पृ० 149।
18. भगवती प्रसाद पांथरी, सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० 69।
19. एफ० ई० पार्जिटर, दी डायनेस्टी आफ दी काली ऐज, पृ० 28।
20. परिशिष्ट पर्व, अष्टम सर्ग, 444।
21. मंजू श्री मूलकल्प, 441।

उस समय वह अल्प व्यस्क था। अधिकांश पुराणों तथा सिंहली बौद्ध ग्रन्थ, दीपवश और महावंश में भी उसे बिन्दुसार के नाम से ही पुकारा गया है। वायु पुराण में उसका नाम भद्रसार मिलता है। कुछ पुराणों में कहीं-कहीं उसे वारिसार भी कहा गया है। चीनी ग्रन्थ फा-युएन चु लिन में उसका नाम बिन्दुपाल दिया गया है। राजविलाकक्ष में चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी पुत्र का नाम सिंहदेव दिया है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि यह सिंहसेन बिन्दुसार का ही एक नाम था अथवा नहीं। यूनानियों ने उसे अभित्रोचेडस, अमिद्राचेटस अथवा अलित्रोचेडस के नाम से ही पुकारा है। ये एक ही नाम के रूपान्तर हैं और इनका समीकरण संस्कृत के अमित्रखाद अथवा अमित्रघात के साथ किया गया है।[22]

वर्मी और सिंहली गाथाओं से प्रकट होता है कि बिन्दुसार ने 27 या 28 वर्ष राज्य किया, किन्तु पुराणों के अनुसार 25 वर्ष। अतः बिन्दुसार ने अपने पिता के समान ही एक लम्बी अवधि तक शासन किया था। उसका राज्यकाल लगभग 298-97 ई० पू० से लेकर 272 ई० पू० तक रहा।[23]

बिन्दुसार के समय के भारत के आन्तरिक मामलों का वर्णन इतिहास लेखकों ने भी बहुत कम किया। बहुत बाद की बौद्ध और जैन कथाओं से विदित होता है कि बिन्दुसार ने अपने पिता के योग्य चतुर कर्मचारियों को अपनी सेवा में रखा था '[24] परिशिष्ट पर्व से ज्ञात होता है कि कुछ काल तक चाणक्य बिन्दुसार का प्रधानमन्त्री था।[25] खल्लाटक भी बिन्दुसार का प्रधानमन्त्री रहा और उसके वाद राधागुप्त प्रधानमन्त्री हुआ।[26]

बिन्दुसार के पुत्रों में अशोक जैसे पुत्र भी थे, जिन्होंने दूरस्थ प्रदेशों के दुर्विनीत कर्मचारियों का बड़ी कुशलता से दमन किया था। इन पुत्रों की सहायता से बिन्दुसार ने न केवल अपने पैतृक साम्राज्य को अक्षुण पुत्रों रखा, अपितु उसकी सीमाओं का विस्तार भी किया।[27] दिव्यावदान में इस संदर्भ में

---

22. डा. विमलचन्द्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 422।
23. प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी, मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 61।
24. नीलकंठ शास्त्री, नन्द मौर्य युगीन भारत, पृ० 186।
25. परिशिष्ट पर्व, 8-46।
26. दिव्यावदान, पृ० 372।
27. नीलकण्ठ शास्त्री, नन्दमौर्य युगीन भारत, पृ० 187।

एक कथा का वर्णन है जिसके अनुसार तक्षशिला में विद्रोह हो जाने पर बिन्दुसार ने अपने पुत्र अशोक को उसके दमनार्थ भेजा था।[28]

तिब्बती इतिहासकार ने लिखा है, कि चाणक्य की सहायता से बिन्दुसार ने सोलह राज्यों को जीता था और इन विजयों के कारण उसका राज्य पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक विस्तृत हो गया था। इन सोलह राज्यों के राजाओं और आमत्यों का घात कर चाणक्य ने बिन्दुसार को उसका स्वामी बना दिया।······ ऐसा प्रतीत होता है कि मगध साम्राज्य के उत्कर्ष के जिस कार्य को चाणक्य के नेतृत्व में चन्द्रगुप्त ने प्रारम्भ किया था, वह बिन्दुसार के शासनकाल में भी जारी रहा। ·····सौराष्ट्र और गुजरात के प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य की आधीनता में अवश्य थे, पर दक्षिणपथ के आन्ध्र महाराष्ट्र और कर्णाटक की विजय सम्भवतः बिन्दुसार द्वारा ही की गई थी।[29]

अनुश्रुतियों के अनुसार का शासनकाल 25 वर्ष है।[30] महावंश के अनुसार यह काल 28 वर्ष है।[31] सत्यकेतु के विद्यालंकार ने लिखा है कि सम्भवतः बिन्दुसार की आयु 70 वर्ष की थी। वे ऐतिहासिक पौराणिक अनुश्रुतियों को विश्वासनीय मानते हैं। बिन्दुसार 299 ई० पूर्व में उसकी मृत्यु हुई।[32]

अशोक :

अशोक का शासनकाल भारतीय इतिहास का उज्जवलतम पृष्ठ है। संसार के नेताओं में उसकी गणना होती है, और उसके नेतृत्व में भारत को उस काल के सभ्य राष्ट्रों में शीर्ष स्थान प्राप्त था। उसको एक विशाल एवं सुसंगठित साम्राज्य उत्तराधिकार में प्राप्त था और वह उसके सर्वथा योग्य सिद्ध हुआ। उसकी कार्यशक्ति अपार थी। उसने अपने सुविशाल साम्राज्य के प्रशासन को पूर्ण बनाने तथा अपनी प्रजा को सुख पहुँचाने का बीड़ा उठाया था और उसके लिए उसने कोई प्रयत्न बाकी नहीं छोड़ा। उसकी सहानुभूति की सीमायें विस्तृत थीं। उसने अपने देश की बढ़ती हुई आवश्यकताओं तथा अनुभूति—बौद्ध के अनुकूल विदेशी प्रशासन और कला के प्रतिदर्शों के ग्रहण के आनाकानी नहीं की।[33]

---

28. दिव्यावदान, पृ० 372।
29. सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 462-63।
30. वायुपुराण, 99-332।
31. महावंश 5-18।
32. सत्यकेतु विद्यालंकार, पूर्वोक्त, पृ० 466।
33. नीलकण्ठ शास्त्री, नन्द मौर्य युगीन भारत, पृ० 226।

अशोक अपने पिता बिन्दुसार की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य का शासक बना। अशोक के विषय में भ्रमित करने वाली तया इतिहास को उलझाने वाली अनेक गाथायें, महावंश, दिव्वदान, दीपवंश, अशोकावदान आदि में मिलती है।[34] महावंश के अनुसार इसकी माता नाम धर्मा, दिव्यावदान के अनुसार जनपद कल्याणी तथा अशोकवदान में सुभद्रांगी उल्लेखित है। महावंश के अनुसार वह 99 भाइयों को मारकर जम्बूद्वीप का राजा बना था।[35] दिव्यावान में उत्तराकिार का युद्ध अशोक और उसके भाई सुमन के बीच बताया है।[36] महावोधिवंश में उल्लेखित है कि सुशीम की अध्यक्षता में उसके 99 भाइयों ने अशोक पर चढ़ाई की जो अशोक द्वारा मार डाले गये।[37]

महावंश के अनुसार जब अशोक ने राज्य प्राप्त कर लिया उसके चार वर्ष बाद उसका राज्याभिषेक पाटलिपुत्र में हुआ।[38] उपरोक्त बातें यह दर्शाती हैं कि अशोक को सिंहासन बिना किसी संघर्ष के नहीं मिला होगा। यद्यपि डा० जायसवाल ने लिखा है कि अशोक अभी 25 वर्ष का नहीं हुआ था जो अवस्था महाभारत के अनुसार राजपद ग्रहण करने के लिये आवश्यक थी। परन्तु राय चौधरी इस सन्दर्भ में यह मत व्यक्त करते हैं कि महाभारत में विचित्रवीर्य का अभिषेक बाल्यकाल में ही हो गया था।[39] इस सम्बन्ध में डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के विचार प्रभावशाली हैं, 'बौद्ध ग्रन्थों में अशोक के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के सम्बन्ध में जो विवरण मिलता है, उसमें अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। बौद्ध लेखक यह प्रदर्शित करना चाहते थे कि अशोक पहले अत्यन्त क्रूर और नृशंस था। बौद्ध धर्म की शिक्षा लेने पर उसके जीवन में परिवर्तन आया और वह एक आदर्श राजा बन गया। इसी मनोवृति से उन्होंने अशोक द्वारा अपने 99 भाइयों की हत्या का उल्लेख किया है।[40]

सिंहासन प्राप्त करने के बाद अशोक ने अपने पैतृक साम्राज्य को बढ़ाने का प्रयास किया। अशोक में भी अपने पिता-पितामह का शौर्य और सामरिक गुण

---

34. भगवती प्रसाद पांथरी, अशोक, पृ० 3।
35. महावंश—प्रकरण 5।
36. दिव्यावदान, पृ० 372-373।
37. महावोधिवंश, पृ० 99।
38. महावंश, 5-22।
39. डा. हेमचन्द्र राय चौधरी, पालिटीकल हिस्ट्री आफ एनशियन्ट इण्डिया, पृ० 302।
40. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 476।

विद्यमान था । डा० राय चौधरी ने लिखा है, यह इतिहास की एक विचित्र गतिविधि है कि अशोक ने मगध साम्राज्य के प्रारम्भिक संस्थापक बिम्बसार द्वारा निकाली गई तलवार को गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिन बाद अन्तिम रूप से म्यान में रख दिया । फिर भी उसने एक बहुत बड़े साम्राज्य पर शासन किया । इस साम्राज्य की वृद्धि के लिए उसने केवल दो ही युद्ध किये । एक काश्मीर और दूसरा कलिंग । इसके बाद सैन्य विजय का युग समाप्त हुआ और धम्म विजय का युग प्रारम्भ हुआ ।[4]

कल्हण की राजतरंगिणी द्वारा विदित होता है कि वह कश्मीर में मौर्यवंश का प्रथम शासक था ।[12] इससे यह ज्ञात होता है कि उसके पिता और पितामह के शासनकाल में काश्मीर मौर्य साम्राज्य के अर्न्तगत नहीं था और उसी ने काश्मीर पर आक्रमण करके उसे मौर्य साम्राज्य में मिलाया ।

अशोक के शासनकाल के आठवें वर्ष में कलिंग पर आक्रमण किया था । अशोक का तेरहवां शिलालेख इस विषय पर प्रकाश डालता है । नन्दों के काल में कलिंग उनके अधीन था । सम्भवतः बिन्दुसार के समय में वह स्वतन्त्र हो गया था । प्लिनी के अनुसार उत्तर में इसकी सीमा गंगा और दक्षिण में गोदावरी थी । इस युद्ध की भीषणता का ज्ञान अशोक का तेहरवां अभिलेख कराता है जिसके अनुसार युद्ध में 1,50,000 व्यक्ति बन्दी बनाये गते, 1,00,000 व्यक्ति घायल हुये ओर इससे कहीं अधिक मारे गये । डा० विनोदचन्द्र सिन्हा ने लिखा है कि, संग्राम की भीषणता ने विजेता का हृदय द्रवित कर दिया । उसने प्रतिज्ञा की कि साम्राज्य-विस्तार के लिये वह अब कभी भी युद्ध नहीं करेगा । इस युगान्तकारी घटना ने भारतीय इतिहास को ही नहीं वरन् विश्व के इतिहास को प्रभावित किया है ।[43]

अशोक का साम्राज्य कहाँ तक विस्तृत था, यह उसकी धर्मलिपियों द्वारा जाना जा सकता है ।——धर्मलिपियों की अन्तसाक्षी द्वारा भी अशोक के साम्राज्य के विस्तार के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी सूचनायें प्राप्त होती हैं । धर्मलिपियों में निम्नलिखित प्रदेशों और नगरों के नाम आये हैं—मगध, पाटलिपुत्र, खलतिक पर्वत, कौशाम्बी, लुम्बिनी, ग्राम, कलिंग, तोसली, समापा, खेविंगल पर्वत, सुवर्णगिरि, इसल, उज्जैनी, तक्षशिला और अटवि ।— इनके आधार पर भी इस परिणाम पर पहुंचा जा सकता है कि कलिंग, मगध, वत्स,

---

41. डा. हेमचन्द्र राय चौधरी, पूर्वोक्त, पृ० 306-7 ।
42. कल्हण, राजतरंणी, पृ० 101-106 ।
43. डा. विनोदचन्द्र सिन्हा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 81 ।

गान्धार अवन्ति और दक्षिणपथ के अनेक प्रदेश अशोक की आधीनता मे थे।[44] डा. सिन्हा ने लिखा है -- अशोक का साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में हिन्दुकेश से पूर्व में बंगाल तक और उत्तर में हिमालय से लेकर सुदूर दक्षिण तक फैला हुआ था।[45] डा. रमाशंकर त्रिपाठी ने अशोक साम्राज्य के विषय में लिखा है, प्राचीन भारत का कोई सम्राट इतने सुविस्तृत भूखण्ड का स्वामी न था।[46]

अशोक के शासनकाल की एक महत्वपूर्ण घटना पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध संगीति का अधिवेशन भी है। बौद्ध धर्म के विविध सम्प्रदायों में सामंजस्य स्थापित करने के लिये इसका आयोजन किया गया था। लगभग नौ मास तक इसका अधिवेशन चला था। मोग्गलिपुत्र तिस्म इसके अध्यक्ष थे। इसी अधिवेशन की समाप्ति पर बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये विदेशों में प्रचारक भी भेजे गये। लंका, सीरिया, मिश्र, मकदूनिया एवं एपिरस में इन प्रचारकों ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इन्हीं के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म विदेशों में बहुत फैला। डा. सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है, इस धर्म-संगीति द्वारा बौद्ध-धर्म में नये उत्साह और नवजीवन का संचार हुआ, स्थविवाद को असाधारण बल मिला, जिसके परिणामस्वरूप उन प्रचारक मण्डलों का संगठन हुआ जिन्होंने भारत के सुदूरपूर्वी प्रदेशों और अनेक देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया।[47]

अशोक एवं उसके धर्म को डा. सिन्हा ने बहुत सुन्दर शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। वे लिखते हैं, 'अशोक महान धर्मवेत्ता था। प्रजा का नैतिक उत्थान उसका लक्ष्य था। इसी दृष्टि से उसने धर्म यात्रा प्रारम्भ की और धर्म- महायात्रों की नियुक्ति की। अशोक स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी था किन्तु अपने व्यक्तिगत धर्म को उसने कभी भी प्रजा पर लादने का प्रयास नहीं किया। लोग अपनी इच्छानुसार अपने धर्म-पालन में स्वतन्त्र थे। अशोक का 'धर्म इहलोक, परलोक दोनों में शांन्ति और सुख प्रदान करने वाला था।'

अशोक के उत्तराधिकारी :

अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य का इतिहास प्रायः अन्धकारमय है। राजा अशोक के बाद मौर्य वंश के जो राजा मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हुए उनके क्या नाम थे और उन्होंने किस क्रम से तथा कितने कितने वर्षों तक शासन किया,

---

44. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 482-84।
45. डा. विनोदचन्द्र सिहा, पूर्वोक्त, पृ. 81-82।
46. डा. रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 131।
47. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 548।

इस विषय पर न केवल पौराणिक और बौद्ध अनुश्रुतियों में भेद है, अपितु पौराणिक इतिवृत में भी मतभेद है। पुराणों के अनुसार मौर्य वंश का शासनकाल 137 वर्ष।[48] जिसमें 85 वर्ष तक (24,25 तथा 36 वर्ष) क्रमशः चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार तथा अशोक ने शासन किया। इससे स्पष्ट होता है कि अशोक के उत्तराधिकारियों ने केवल 52 वर्ष तक राज्य किया।

जहां तक अशोक के पुत्रों का सम्बन्ध है। इसके अभिलेखों में केवल तीवर नाम के पुत्र का उल्लेख है। कल्हण की राजतरंगिणी में अशोक के उत्तराधिकारी का नाम जालौक बताया है, जो काश्मीर पर राज्य करता था। तिब्बती विद्वान तारानाथ ने अशोक के क्रमशः तीन वंशजों का उल्लेख इस प्रकार किया है: कुणाल, विगतशोक और वीरसेन।

पुराण तथा बौद्ध और जैन ग्रन्थ कुणाल को अशोक का उत्तराधिकारी वताते हैं। दिव्यावदान के अनुसार अशोक का ज्येष्ठ पुत्र होने के वावजूद भी वह सिंहासनारूढ़ नहीं हुआ। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार उसकी विमाता तिष्यरक्षित ने उसकी आंखें फुड़वा दी थीं। डा० राय चौधरी के कथनानुसार अन्धा होने के कारण उसकी राजकीय स्थिति वैसी ही रही होगी जैसे धृतराष्ट्र की थी और सम्भवतः उसका पुत्र सम्प्रति उसकी ओर से राज्य का वास्तविक कार्य सम्पादित करता था। पुराणों में उल्लेखित है कि कुणाल ने आठ वर्ष तक शासन किया था।

दिव्यावदान के अनुसार सम्प्रति कुणाल का पुत्र था। परन्तु वायुपुराण के अनुसार कुणाल का पुत्र बंधुपालित था। तिब्बती लेखक तारा नाथ ने विगतशोक को कुणाल के बाद का शासक घोषित किया है। डा० राजबली पाण्डेय ने लिखा है, दशरथ अशोक का पौत्र और कुणाल का पुत्र था।[49] जिसने देवानां प्रिय की उपाधि धारण की थी।

डा० रायचौधरी सम्प्रति और इन्द्रपालित एक ही व्यक्ति को मानते हैं। सम्प्रति शायर कुणाल के साथ सहायक शासक भी रह चुका था। सम्भवतः तारानाथ द्वारा उल्लेखित विगता शोक और सम्प्रति एक ही व्यक्ति थे। डा. स्मिथ ने अनुमान किया है कि सम्भवतया सम्प्रति उज्जैन में और दशरथ पाटलिपुत्र में शासन करता था, जिसका अर्थ यह होता है कि सम्भवतया अशोक के बाद उसके दोनों पौत्रों ने मौर्य साम्रज्य को आपस में बांट लिया था। तदनुसार साम्राज्य

---

48. वायुपुराण, 99-336।
49. डा. राबली पाण्डेय, अशोक के अभिलेख, पृ. 136।

का पश्चिमी भाग सम्प्रति और पूर्वी भाग दशरथ को प्राप्त हुआ। किन्तु सुनिश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा ही हुआ होगा। इतना निर्विवाद है कि सम्प्रति ने भी राज्य किया था।[50]

शालिशुक का नाम वायुपुराण और विष्णुपुराण में ही नहीं, अपितु गार्गी संहिता के युग पुराण खण्ड में भी उल्लेखित है।[51] राय चौधरी के अनुसार दिव्यावदान में वर्णित सम्प्रति का पुत्र वृहस्पति और शालिशुक सम्भवतः एक ही व्यक्ति हैं। पुराणों के अनुसार शालिशुक जैन धर्म का अनुयायी था। जिसने जैन धर्म का प्रचार नृशंसता से किया।

शालिशुक के बाद देववर्मन (सोमशर्मन), शतधनुष (शतधन्वा) और अन्तिम मौर्य राजा वृहद्थ हुआ।[52] मौर्य वंश का अन्तिम राजा वृहद्रथ था। वह शतधनुष या शतधन्ता का पुत्र न होकर सम्भवतः भाई था। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उसने सात साल तक शासन किया।[53] वृहद्रथ के बारे में विभिन्न प्राचीन साहित्य द्वारा यह पता चलता है कि उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने उसके दुर्बल और बुद्धिहीन होने के कारण उसका वध कर दिया था। यह घटना 187 ई.पू. में घटी। वृहद्रथ की मृत्यु के साथ ही मौर्य साम्राज्य का अन्त हो गया।

मौर्य साम्राज्य के ह्रास एवं पतन से दो बातें प्रमाणित होती हैं, प्रथम, तत्कालीन समय में स्वेच्छाचारी, विलासी और अन्यायी राजा प्रजा को स्वीकार नहीं था। द्वितीय सम्प्रभुता जनता के आधीन थी।

प्राचीन अनुश्रुति में मौर्य काल के पतन के सन्दर्भ में जो बातें ज्ञात होती है वह निम्नवत हैं :

वाणभट्ट ने हर्षचरित में वृहद्रथ का पुष्यमित्र द्वारा कपटपूर्ण हत्या का वर्णन इस प्रकार किया है :

"प्रजा दुर्बल च बलदर्शनव्यदेशदर्शिता शेष सैन्यः सेनावीरनायों मौर्य वृहद्रथ पिपेष पुष्यमित्र स्वामिन्म्" ।[54]

---

50. प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी, मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 104।
51. नीलकण्ठ शास्त्री, नन्द मौर्य युगीन भारत, पृ. 279।
52. प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी, पूर्वाक्त, पृ. 105।
53. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास।
54. बाणभट्ट, हर्षचरित, षष्ट उच्छवास।

अर्थात् अनार्य सेनानी पुष्यमित्र ने सेना का प्रदर्शन करने के बहाने से अपनी सम्पूर्ण सेना को एकत्र कर अपने स्वामी प्रतिज्ञादुर्बल वृहद्रथ मौर्य को पीस डाला।

इसी प्रकार वायुपुराण और कलियुग राजवृतान्त में भी आया है—

पुष्यमित्रस्तु सेनानी रुद्रस्य स वृहद्रथम।
कारयिष्यति वै राज्यं——(वायु पुराण)
पुष्यमित्रस्तु सेनानीमहाबलपराक्रमः
अतीव वृद्धं राजानं समुद्धृत्य वृहद्रथम (कलियुग राजवृतान्त)

यहां पर भी पुष्यमित्र को 'सेनानी' और महाबलपराक्रमः बताते हुये उसके द्वारा वृहद्रथ को सिहानच्युत करके स्वयं राज्य प्राप्त कर लेने का उल्लेख किया है।

वाणभट्ट द्वारा हर्षचरित के उपरोक्त अंश में षड्यन्त्र को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है, जो कि वृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र द्वारा उसके आत्मघात के लिये किया गया था। यह स्पष्ट है पुष्यमित्र अन्तिम मौर्य सम्राट का प्रधान सेनापति था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह षड्यन्त्र पूर्व-नियोजित था और पुष्यमित्र ने वृहद्रथ के विरुद्ध प्रजा तथा सेना में अनासक्ति पैदा कर दी। जिसके फलस्वरूप सेना तथा प्रजा वृहद्रथ के विरोध में हो गई तथा पुष्यमित्र ने उचित अवसर पर जब कि वृहद्रथ सेना के समक्ष था उसकी हत्या कर दी और सेना ने उसका यह कृत्य स्वीकार किया। यह बात वाणभट्ट द्वारा अस्पष्ट ढंग से कही भी गई है, उसने पुष्यमित्र को 'अनार्य' कहा है और वृहद्रथ को 'प्रतिज्ञादुर्बल'। इसी प्रकार अन्य पौराणिक अनुश्रुतियों में भी पुष्यमित्र को 'महाबलपराक्रम' कहा गया है। वाणभट्ट ने वृहद्रथ को 'प्रतिज्ञादुर्बल' सम्भवतः पौराणिक अनुश्रुतियों को स्मृति में रख कर ही कहा है। जैसे कि ऐतरेय ब्राह्मण में भी आया है।

'यान्च रात्रीमजायेह यान्च प्रौस्मि तदुभयन्तरेणेष्ठापूर्तं
में लोकं सुकृतामायुः प्रजा बृन्जीथाः यदि ते द्रुहयेमेति'[55]

अर्थात् जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिसमें मेरी मृत्यु होगी, उनके बीच में (सम्पूर्ण जीवनकाल में) जो भी इष्टापूर्व (शुभ-कार्य) मैंने किये हों वे सब नष्ट हो जाएं और मैं अपने सब सुकृतों आयु और प्रजा से वंचित हो जाऊं यदि मैं किसी भी प्रकार से आपके (प्रजा के) विरुद्ध द्रोह करूं।

---

55. ऐतरेय ब्राह्मण 8-15।

उपरोक्त सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि वृहद्रथ को प्रतिज्ञा दुर्बल न केवल वाण द्वारा कहा गया अपितु प्रजा द्वारा भी स्वीकार कर लिया गया था। चूंकि एक शक्तिशाली और दृढ़निश्चयी व्यक्ति पुष्यमित्र के समक्ष प्रजा ने वृहद्रथ को कोई मान्यता नहीं दी। अगर ऐसा होता तो प्रजा पुष्यमित्र को स्वीकार न करती। हर्षचरित में वाण ने पुष्यमित्र को अनार्य कहा है। इस सन्दर्भ में डा. सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है कि— 'इसका कारण यह नहीं है, कि वह आर्य जाति का न होकर किसी आर्य भिन्न कुल में उत्पन्न हुआ था। पुष्यमित्र जाति से ब्राह्मण था। राजा हर्षवर्धन के आश्रय में रहने वाला वाण राजा के विरुद्ध विद्रोह कर उसकी हत्या कर देने वाले व्यक्ति को यदि 'अनार्य' कहे, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है।[56]

इस सन्दर्भ में एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि अशोक की बौद्ध-पक्षीय और सम्भवतः उसके उत्तराधिकारियों की जैन प्रतिक्रिया स्वरूप ब्राह्मण-वाद ने विद्रोह किया। जिसका नेता पुष्यमित्र था। परन्तु यह तर्क निर्मूल है। अशोक की बौद्धनीति संकीर्ण नहीं थी उसके समय में जो आदर सम्मान श्रमणों का होना था वही ब्राह्मणों का भी होता था। अशोक किसी ब्राह्मण विरोधी भावना से ओतप्रोत था ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं मिलता है और न ही ऐसा कोई प्रमाण उसके उत्तराधिकारियों का मिलता है। इसलिए यह तर्क निर्मूल है कि पुष्यमित्र ने बौद्ध अथवा जैन धर्म के विरोध में उपरोक्त षड्यन्त्र रचा था।

सत्यकेतु विद्यालंकार ने पुष्यमित्र द्वारा वृहद्रथ की हत्या के सम्बन्ध में लिखा है, मगध के लिये यह घटना नई नहीं थी वृहद्रथ वंश के अन्तिम राजा रिपुंजय की हत्या उसके अमात्य पुलिक द्वारा की गई थी जिसने कि अपने पुत्र बालक को पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ कराया था। राजा बालक के विरुद्ध श्रेणिय (श्रेणिबल के सेनानी) भट्टिय ने विद्रोह कर मगध से उसके शासन का अन्त किया था, और अपने पुत्र बिम्बसार को वहां का राज्य प्रदान किया था। बिम्बसार के वंशज मगध राजा नागदासक के विरुद्ध उसके अमात्य शिशुनाग ने विद्रोह किया, और वह स्वयं मगध का राजा बन गया। शिशुनाग के पुत्र काक-वर्ण महानंदी के शासन का अन्त भी एक षडयन्त्र द्वारा हुआ। मगध में यही प्राचीन परम्परा थी। पुष्यमित्र ने भी इसी का अनुसरण किया और अपने स्वामी वृहद्रथ की हत्या कर राजगद्दी पर अधिकार स्थापित कर लिया।[57]

---

56. सत्यकेतु विद्यालंकार—मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 689।

57. सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 688।

उपरोक्त प्रमाणिक आधारों पर यह कहा जा सकता है कि मौर्य साम्राज्य के पतन में प्रजा तथा सेना का हाथ था, चूंकि प्रजा तथा सेना स्वेच्छाचारी, विलासी और अन्यायी राजा को स्वीकार नहीं करती थी। ऐसा भी कहा जा सकता है कि पुष्यमित्र ने प्रजा की तत्कालीन भावना को समझा और उसी प्रजा तथा सेना के समक्ष उस राजा की हत्या की जो प्रजा को स्वीकार्य नहीं था। उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन समय में सम्प्रभुता जनता अथवा प्रजा में निहित थी।

मौर्यकाल में राजा :

मौर्यकाल में पूर्व भारत जनपदों और गणराज्यों का शासन था। मौर्यों ने इन्हीं जनपदों एवं गणराज्यों को जीतकर भारत में अपनी सम्प्रभुता कायम की थी। प्राचीन काल में राज्य के सात अंग माने गये हैं, यथा-राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष सेना और मित्र। परन्तु प्रथम मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के प्रधानमन्त्री कौटिल्य ने इस अवधारणा को बदलते हुये केवल दो अंगों पर विशेष बल दिया यथा :

'राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः'।[58]

गणराज्यों और जनपदों को विजित करने पर जिस मौर्य साम्राज्य का निर्माण हुआ, उस साम्राज्य निर्माण का केन्द्र बिन्दु निश्चित ही एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति रहा होगा, जिसमें कूटस्थानीय व केन्द्रीभूत शक्ति निहित थी। ऐसा व्यक्ति राजा ही था। जिसने सेना, कोष, दुर्ग आदि की व्यवस्था कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। कौटिल्य ने राजा की शक्ति अथवा स्थिति को निम्न प्रकार स्पष्ट किया है :

> 'मन्त्रि परोहिताद' मृत्यर्गमध्यक्ष प्रचारं पुरुष द्रव्यप्रकृतिव्य सव्रप्रतीकारमेधनं च राजैव करोति—स्वामी च सम्पन्नः स्वसम्पद्धिः प्रकतीसम्पादयति । स्वयं यच्छीलस्तच्छीलाः प्रकृतयो भवन्ति, उत्थाने प्रमादं च तदायत्तत्वात् तत्कूट-स्थानीयो।

अर्थात् मन्त्री, पुरोहित आदि मृत्य वर्ग की और शासन के विविध अध्यक्षों व अमात्यों की नियुक्ति राजा ही करता है, यदि राज पुरुषों, कोष तथा जनता पर कोई विपत्ति आये तो उसका प्रतीकार भी राजा द्वारा ही किया जाना चाहिये।

---

58. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 8/2।

इन सभी की उन्नति भी राजा के हाथों में होती है, यदि अमात्य ठीक न हो तो राजा उन्हें हटाकर नये अमात्यों की नियुक्ति करे, पूज्य लोगों की पूजा कर और दुष्टों का दमन कर राजा ही सबका कल्याण करता है, यदि राजा सम्पन्न होगा, तो उसकी प्रजा उसकी समृद्धि द्वारा सम्पन्न होगी, राजा का जो शील होगा, वही प्रजा का भी होगा, यदि राजा उद्यमी तथा उत्थानशील होगा तो प्रजा भी उत्थानशील होगी। यदि राजा प्रमादी होगा तो प्रजा भी प्रमादी हो जाती है, अतः राज्य में राजा ही कूटस्थानीय है।[59]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मौर्यकाल के राजा की स्थिति को डा. परमात्माशरण ने इस प्रकार व्यक्त किया है—राजा प्रभुसत्ता का नैतिक और कानूनी मूर्तरूप है, वह मुख्य कार्यपालिका अध्यक्ष है और वही सेना का अध्यक्ष है। राज्य का प्रशासन पूर्णतया उसके विवेक पर निर्भर करता है और न्याय प्रशासन भी उसी के हाथों में रहता है। राजा के अनेक विशेषाधिकार हैं जिनमें मुख्य निम्नतः हैं :

1. वह अदण्डय है अर्थात् उसके ऊपर अन्य किसी का अधिकार क्षेत्र नहीं है।
2. वह घाट-महसूल तथा अन्य करों से मुक्त है।
3. उत्तराधिकार के अभाव में सम्पति पर उसी का अधिकार है।
4. पृथ्वी में गड़े धन पर राजा का अधिकार है।
5. उसे न्यायालय में साक्षी के रूप में नहीं बुलाया जा सकता।
6. समाज में उसका स्थान सबसे ऊंचा है।

परन्तु कौटिल्य के अनुसार राजा की सत्ता की कुछ सीमाएं भी है। राज्य के आधार-भूत कानून और संस्थाएं उसके ऊपर हैं। समाज की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाओं के कार्यों में भी वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता। राजा के लिए व्यक्तियों के स्वधर्म-आचार और नैतिकता के परम्परागत नियमों और वर्णाश्रम धर्म को बनाये रखना आवश्यक है।[60]

उपरोक्त बातों से स्पष्ट होता है कि मौर्यों के शासन में राजा की स्थिति कूटस्थानीय थी। सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था उसी के इर्द-गिर्द घूमती थी। जब

---

59. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 6/1।
60. डा० परमात्माशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृ० 158।

साम्राज्य का निर्माण व स्थिति राजा पर ही निर्भर हो तो उसे भी एक आदर्श व्यक्ति होना चाहिये। यह निश्चित है कि कोई साधारण व्यक्ति 'कूटस्थानीय' स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये राजा के लिये आवश्यक गुणों का वर्णन करते हुये कौटिल्य कहते हैं कि वह देवबुद्धि, धैर्यसम्पन्न, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, उच्चाभिलाषी अति उत्साही शीघ्र कार्य करने वाला, सामन्तों को वश में करने वाला, दृढ़बुद्धि, गुणसम्पन्न, परिवारवाला और शास्त्र बुद्धि से युक्त हो। उपर्युक्त गुणों को कौटिल्य अभिगांमिक गुण के रूप में परिभाषित करते हैं। इसके अतिरिक्त राजा में प्रज्ञागुण, उत्साहगुण तथा आत्मसम्पन्न गुण होने चाहिए।[61]

कौटिल्य इस तथ्य से भी परिचित थे कि आदर्श राजा सुगमता से प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु उच्च शिक्षा व विनय के द्वारा राजा में यह गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं। इस प्रकार से शिक्षित राजा ही अपनी प्रजा को सुदृढ़ शासन प्रदान करने में सफल हो सकता है, तथा चिरकाल तक पृथ्वी निर्बाध रूप से शासन करता है।[62] इस प्रसंग में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि कौटिल्य स्वेच्छाचारी राजा के समर्थक नहीं थे।

मन्त्रि परिषद :

'सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते
कुर्वीतं सचिवास्तस्मुत्तिषां च शृणुयान्सतम् ।।

कौटिल्य ने मन्त्री परिषद की उपयोगिता को स्वीकारा है कि राजत्व की गाड़ी एक चक्र से नहीं चल सकती। इस लिये राजा सचिवों को नियुक्ति करे और उनकी सम्मति को सुने।[63] राजकार्य बहुत से होते हैं और बहुत से स्थानों पर होते हैं। अतः राजा के लिये यह सम्भव नहीं कि प्रत्येक कार्य स्वयं कर सके। इसलिये उसे मन्त्रियों की आवश्यकता होती है। इसलिये यह आवश्यक है कि मन्त्री नियुक्त किये जायें जो कि परोक्ष और अनुमेय राजकर्मो के सम्बन्ध में राजा को परामर्श देते रहें।[6]

डा. सत्यकेतु विद्यालंकार ने मौर्यकालीन मन्त्री परिषद के बारे में लिखा है—राजकार्य के सम्पादन के लिये राजा को केवल सहायक ही नहीं चाहिये,

---

61. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 6/1।
62. उपरोक्त, 1/4, 1/5।
63. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1/6।
64. पूर्वोक्त, 1/5।

अपितु ऐसे मन्त्री भी चाहिये जो महत्वपूर्ण राजकीय विषयों के सम्बन्ध में उसे परामर्श दें। इसी कारण कौटिल्य अर्थशास्त्र में मन्त्रीपरिषद की व्यवस्था की गई है।[65]

मौर्यकालीन मन्त्रीपरिषद का स्वरूप निम्न प्रकार व्यक्त किया गया है—"ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक समिति की सच्ची प्रतिनिधि वह मन्त्रि परिषद (प्रिवी-कौंसिल) थी, जिसका उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। यह मन्त्रिपरिषद सामान्य मन्त्रियों की सभा से स्पष्टतया भिन्न है, क्योंकि कौटिल्य ने यह परामर्श दिया है कि आवश्यक कार्य के लिये मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद को बुलाया जाय। किसी समय इसके सदस्यों की बहुत अधिक संख्या हुआ करती थी, यह चाणक्य के इस कथन से स्पष्ट है कि इन्द्र की मन्त्रिपरिषद में एक सहस्र ऋषि सदस्य होते थे।[66] इसी सन्दर्भ में मजूमदार ने आगे लिखा है—'यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत में भी शासन-संस्थाओं का विकास इंलैण्ड की भांति हुआ है जिस प्रकार इंग्लैण्ड में 'नेशनल-कौंसिल' से 'परमानेन्ट कौंसिल' का प्रादुर्भाव हुआ और यही बाद में 'प्रिवी कौंसिल' के रूप में परिणित हो गई, और इसी प्रिवी कौंसिल से राजा अपने विश्वस्त मन्त्रियों को चुनते रहे और मन्त्रि-मण्डल (कैबिनेट) का निर्माण हुआ। इसी तरह भारत में भी वैदिक काल की समिति बाद में मन्त्रिपरिषद के रूप में परिणित हो गई और इसी परिषद से राजा अपने मन्त्रिमण्डल को चुनते थे।[67]

मन्त्रिपरिषद के मन्त्रिों की संख्या कौटिल्य के अनुसार मानव सम्प्रदाय का मत है कि बारह अमात्यों की मन्त्रिपरिषद हो परन्तु बार्हस्पत्य सम्प्रदाय का मत है कि संख्या सोलह हो। मन्त्रिपरिषद की संख्या के बारे में कौटिल्य के अनुसार —मन्त्रिपरिषद में मन्त्रियों की संख्या निश्चित करने की आवश्यकता नहीं है। जितने आवश्यक हो उतने मन्त्री होने चाहिये। विशाल मन्त्रि परिषद को रखना राजा के अपने लाभ के लिये हैं क्योंकि इससे उसकी मन्त्रशक्ति में वृद्धि होती है। सब समारम्भों की सफलता मन्त्र पर ही निर्भर है।[68]

---

65. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 162।
66. रमेशचन्द्र मजूमदार, कार्पोरेट लाइफ इन एनशियन्ट इण्डिया, पृ० 126-27।
67. रमेशचन्द्र मजूमदार, पूर्वाक्त, पृ० 128-129।
68. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1/11।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में उन विषयों पर भी प्रकाश डाला है जिन पर राजा मन्त्रियों से परामर्श लेता था अथवा जिन पर परामर्श की आवश्यकता होती थी वे निम्नतः हैं :

1. वे कार्य जिन्हें राज्य द्वारा सम्पादित किया जाना हो उनके प्रारम्भ के उपाय।
2. इन्हीं कार्यों पर कितना आर्थिक और शारीरिक श्रम की आवश्यकता होगी इसका निर्धारण।
3. यह निश्चित करना कि राज्य-कार्य किन-किन प्रदेशों में किये जायें और उनकी कार्यविधि निर्धारण करना।
4. विपत्तियों (युद्ध विषयक आदि) का प्रतीकार।
5. कार्यसिद्धि के साधनों पर विचार।[69]

मन्त्रिपरिषद में जो विषय रखे जाते थे वे अत्यन्त गोपनीय रहे, इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था। कौटिल्य के अनुसार इसके लिए ऐसा स्थान चुनना चाहिये जहां पक्षी भी न देख सकें, जहां से बात बाहर न सुनाई पड़े। मन्त्र रक्षा का पूरा प्रवन्ध किये बिना यह कार्य न किया जाय। यदि कोई मन्त्र का भेद खोले, तो उसे जान से मार दिया जाय।[70]

मन्त्रिपरिषद के अतिरिक्त एक समिति भी होती थी जिसमें तीन अथवा चार मन्त्री होते थे। 'मन्त्रिगण' के नाम से यह जानी जाती थी। विशेष मामलों में इसकी राय ली जाती थी। राजा 'मन्त्रिगण:' और मन्त्रिपरिषद के सहयोग से ही राज-कार्य चलाता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह बात प्रमाणित होती है कि मौर्य काल में राजकार्य में तथा राजा को परामर्श देने का कार्य मन्त्रिपरिषद किया करती थी। अशोक के अभिलेखों में इसे परिषा कहा गया है। वही कौटिल्य अर्थशास्त्र की मन्त्रिपरिषद है। पर इस परिषद के मन्त्रियों की नियुक्ति न तो निर्वाचन से होती थी और न इसके कोई क्रमानुगत सदस्य ही होते थे। परिषद के मन्त्रियों की नियुक्ति राजा अपनी स्वेच्छा से करता था।[71]

---

69. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1/11।
70. पूर्वोक्त, 1/11।
71. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० 191।

मौर्यों के शासन में मन्त्रिपरिषद का स्थान अत्यन्त महत्व का था, यह सर्वथा असन्दिग्ध है। पर यह परिषद किसी प्राचीन संस्था का प्रतिनिधित्व करती हो और राजा को अनिवार्य रूप से इसके निर्णयों के अनुसार ही कार्य करना पड़ता हो, यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है। वस्तुतः कौटिल्य अर्थशास्त्र में उल्लिखित मन्त्रिपरिषद एक ऐसी संस्था है जिसकी उपयोगिता केवल इस कारण है, क्योंकि शासन में मन्त्रबल का बहुत महत्व है। राजकीय विषय अत्यन्त जटिल होते हैं, विद्यावृद्ध मन्त्रियों से परामर्श करके ही राजा को उनके विषय में कोई निर्णय करना चाहिये।—वस्तुतः मौर्य युग में राजा की स्थिति कूटस्थानीय थी और शासन के सब अधिकार उसमें केन्द्रित थे, पर राजा किस अंश तक स्वेच्छाचारी रूप से शासन करे और किस अंश तक मन्त्रियों के आधीन रहे, यह राजा और उसके मन्त्रियों के व्यक्तित्व व योग्यता पर निर्भर करता था।[72]

इस सन्दर्भ में कि, मन्त्रियों के विशेषाधिकार राजा के समक्ष क्या थे अथवा मन्त्रियों और राजा के सम्बन्ध कैसे थे, मुद्राराक्षस का निम्न अंश विशेष महत्वपूर्ण है :

'वृषल। श्रूयताम इह खल्वर्थशास्त्रकारास्त्रिविधां सिद्धिमुपवर्णयन्ति राजायत्तां सचिवायत्तामुभयायत्तां चेति। ततः सचिवायत्तसिद्धस्तव किं प्रयोजनमन्वेषणेन, यतो वयमेवात्र नियुक्त वेत्स्यामः।'

अर्थात् वृषल सुनो, अर्थशास्त्र के रचयिता ने तीन सिद्धियों का विवरण दिया है— राजयत्तसिद्धि, सचिवायत्तसिद्धि और उभयायत्तसिद्धि। तुम तो सचिवायत्तसिद्धि हो अर्थात् तुम्हारा शासन तो सचिव के आधीन है। इस कारण तुम्हें प्रयोजन पूछने की क्या आवश्यकता है? इस कार्य के लिये जब हम नियुक्त हैं, तो हम ही इस विषय में जानकारी रखते हैं।[73]

उपरोक्त विवरण यह जानकारी देता है कि चन्द्रगुप्त के समय में न केवल कौटिल्य की यह महत्ता रही होगी अपितु मौर्य साम्राज्य की मन्त्रिपरिषद के मन्त्रियों को भी विशेषाधिकार प्राप्त थे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मौर्य युग को साम्राट भले ही कूटस्थानीय होने के कारण अत्यन्त शक्तिशाली रहे हों परन्तु योग्य मन्त्रि उन्हें अपने प्रतिबन्ध में रख सकते थे। दूसरे अर्थों में यह भी कहा जा सकता है कि मौर्य सम्राटों द्वारा अपने मन्त्रियों की उपेक्षा कर पाना सम्भव नहीं था। इसलिये कौटिल्य ने कहा है :

---

72. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 166-167।
73. विशाखदत्त, मुद्राराक्षस, तृतीय अंक,

'ब्राह्मणेनैधित क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमान्त्रितम् ।
ववत्य वितमत्यन्तं शास्त्रानुगम शास्त्रितम् ।।'

अर्थात् जो राजा ब्राह्मण, गुरु द्वारा सुचारू रूप से विद्या विनीत किया गया हो, मन्त्रियों के परामर्श को मानता हो और शास्त्रानुसार कार्य करता हो वह अविजित होकर विजय का वरण करता है तथा शास्त्रादेश ही उसके शस्त्र होते हैं ।[74]

सम्प्रभुता की अवधारणा :

मौर्य युग का शासन राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली पर आधारित था। चूंकि राजतन्त्र प्रणाली में राजा सर्वोच्च पद पर होता है। इसलिए यह समझा जाना कि सम्प्रभुता राजा में ही निहित है सामान्य बात है। यह निर्विवाद है कि मौर्यकाल में राजा की स्थिति कूटस्थानीय थी और इस कूटस्थानीय राजा को शासन-कार्यों में सहयोग देने के लिये जो मन्त्रिपरिषद थी वह भी उसकी स्वयं की कृति थी। राजा की यह स्थिति सहज ही यह अनुमान लगाने को प्रेरित करती है कि मौर्य सम्राट सम्प्रभु थे तथा जनता का शासन कार्यों में कोई स्थान अथवा महत्व नहीं था। यह भी सही है कि अपने व्यक्तिगत प्रताप और अपने प्रति अनुरक्त सेना की सहायता से जिन मौर्य सम्राटों ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उन पर अंकुश लगाने के लिए प्रत्यक्ष में कोई अन्य उच्चतर सत्ता न थी। परन्तु मौर्य काल की स्थिति का सम्पूर्ण अवलोकन करने पर यह स्थिति स्पष्ट होती है कि तत्कालीन समय में सम्प्रभुता का वास राजा में न होकर जनता में निहित था। प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त को प्रतिष्ठित करने वाले उसके महामात्म चाणक्य अथवा कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में भी सम्प्रभुता का वास अप्रत्यक्ष रूप से जनता में ही समाहित किया है।

मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व सिकन्दर के वापस चले जाने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने जनता का आह्वान किया था। जिसे जास्टिन महोदय ने निम्न प्रकार लिखा है—भारतीय जनता को चन्द्रगुप्त ने तत्कालीन सरकार का तख्ता उलट देने और नये राज्य का समर्थन करने का आह्वान किया।[75]

उपरोक्त कथन से यह आभास मिलता है कि तत्कालीन समय में नवीन साम्राज्य की स्थापना करने के लिये जनता का समर्थन आवश्यक था। और इसी आवश्यकता को समझाते हुए चन्द्रगुप्त ने जनता का आह्वान किया था।

---

74. कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ० 1/5।
75. जास्टिन, इन्वेजन आफ इण्डिया बाई अलेक्जेन्डर दी ग्रेट, पृ० 328।

दिव्यावदान की कथा भी प्रजा का शासन में अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेने की पुष्टि करती है।

'अधो राज्ञो बिन्दसारस्य तक्षशिलानाय नगरं विरुद्धम। तत राजा बिन्दुसारेण शोका विसर्जित न वयं कुमारस्य विरुद्धाः नापिराज्ञो बिन्दुसारस्य। अपितु दुष्टाभात्यात्या: अस्मांक परिभवं कुर्वन्ति (दिव्यावदान)

दिव्यावदान की इस कथा के अनुसार तक्षशिला की जनता ने कतिपय अमात्यों के अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। तक्षशिला की इस कठिन परिस्थिति से निपटने के लिये बिन्दुसार ने अशोक को भेजा था। अशोक वहां प्रजाजनों से मिला और विद्रोह का कारण पूछा। जिस पर उन्होंने कहा कि प्रजा कुमार या राजा बिन्दुसार के विरुद्ध नहीं है। उसकी शिकायत तो दुष्ट अमात्यों के खिलाफ है। तत्पश्चात उन अमात्यों पर अंकुश लगाया गया होगा। यह प्रकरण भी प्रजा की शासन में रुचि और अपने अधिकारों के प्रति जागरुकता का प्रमाण है। सम्भवत: अशोक ने इस स्थिति को समझा और इसलिये अशोक ने कलिंग अभिलेख में भी यह उत्कीर्ण कराया कि प्रान्तीय अधिकारियों पर अंकुश लगाया जाय।

मौर्यकाल में व्यवसायियों और शिल्पियों के संगठन थे, जिन्हें 'श्रेणी' कहते थे। व्यापारियों का भी इसी प्रकार का संगठन था। इन व्यवसायियों, शिल्पियों तथा व्यापारियों के संगठन को यह अधिकार था कि वह अपने सम्बन्ध में स्वयं कानून बना सकें। इनके कानून न्यायालयों में मान्य होते थे और इन्हीं के अनुसार न्यायाधीश वादों का निर्णय किया करते थे।[76]

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने इन संगटनों के बारे में लिखा है जनपदों, नगरों ग्रामों, शिल्पि श्रेणियों और व्यापारी समवायों के विविध संगठन इस प्रकार की स्वशासन संस्थायें थीं, जिसके कारण सर्व साधारण जनता को अपने कानून स्वयं बनाने, अपने व्यवहार को स्वयं निर्धारित करने और अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों की स्वयं व्यवस्था करने का अवसर प्राप्त होता था। डा० सत्यकेतु आगे लिखते हैं कि मौर्यों का साम्राज्य इतना अधिक विशाल था, कि उसके शासन के लिये किसी प्रकार की लोकतन्त्रात्मक प्रतिनिधि-संस्थाओं की आवश्यकता ही न थी। आवागमन के समुचित साधनों के अभाव में प्राचीन काल में विशाल साम्राज्यों में यदि जनता को अपने प्रतिनिधि चुनने का अवसर प्रदान भी किया जाता तो इन निर्वाचित प्रतिनिधियों के लिये साम्राज्य की राजधानी में एकत्र हो

---

76. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 8/4।

सकना सुगम नहीं था। यही कारण है कि प्राचीन युग के बड़े राज्यों में प्रतिनिधि संस्थाओं का विकास सम्भव नहीं हुआ।[77]

कौटिल्य ने सम्प्रभुता का वास 'दण्ड' में माना है। उन्होंने 'दण्ड' के सहारे शासन चलाने, उसका समुचित पालन करने तथा उसके गुण-दोषों का निम्न प्रकार उल्लेख किया है :

'सविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकर्मिर्योजयति। दुष्प्रणीतः काम-क्रोधाभ्याम ज्ञानज्ञ वानप्रस्थ परिव्राजकानापि कोपयति किमंगपुनर्गृह-स्थान्।'[78]

अर्थात् यदि दण्डशक्ति का ठीक प्रकार से प्रयोग किया जाय, तो वह प्रजा का धर्म, अर्थ और काम से विनियोजन करता है। परन्तु यदि काम क्रोध या अज्ञान के कारण दण्डशक्ति का समुचित तरीके से पालन न किया जाय तो उस अवस्था में वानप्रस्थ और परिव्राजक तक भी कुपित हो जाते हैं, फिर गृहस्थों का तो कहना ही क्या है।

यही नहीं चाणक्यसूत्राणि में एक स्थल पर यह आया है :

'प्रकृति कोपो हि सर्वकोपेभ्यो गरीमान'।[79]

अर्थात् प्रजा का प्रकोप अन्य सब कोपों की तुलना में भयंकर है। उपरोक्त तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि कौटिल्य भी जनता की प्रभुता को प्राथमिकता देते थे। तभी तो प्रजा के हित के सम्बन्ध में निम्नतः लिखा है :

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रि हित राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥[80]

अर्थात् राजा को चाहिये कि वह प्रजा के सुख में सुख और प्रजा के हित में ही अपना हित समझ और अपने आपको प्रिय लगने वाला कार्य न करके प्रजा को प्रिय लगने वाला कार्य राजा को करना चाहिये।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि मौर्य-युग में राजा स्वेच्छाचारी नहीं था। मौर्य शासकों के अन्तिम राजा वृहद्रथ का उदाहरण भी सामने आता है जब उसने प्रजा के हितों का स्मरण रखना छोड़ दिया तब जनता ने सेनापति पुष्यमित्र द्वारा वृहद्रथ की हत्या कर किसी अन्य प्रकार का विरोध प्रकट नहीं किया।

---

77. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 189।
78. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1/2।
79. चाणक्यसूत्राणि, सूत्र 13।
80. कौटिल्य अर्थशास्त्र।

राजा की निरंकुशता के सम्बन्ध में डा० एम० वी० कृष्णाराव ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र को माध्यम रखते हुये लिखा है, राजा को जनता का अभिकर्ता समझ कर शास्त्रों में सूचित विधियों व देश के आचरणों का जो राजनीतिक संविधान तथा नैतिक नियम दोनों होते थे पालन करना चाहिये। प्रशासन के व्यवहारिक कार्य में राजा अपने मन्त्रियों से पथदर्शित होता था। विद्वत समाज की धाक थी जिसे जनता समाज का अभिभावक समझती थी। राजा अपने शासन को केवल 'बलात्कार' पर आधारित नहीं कर सकता था। जिन अत्याचारियों ने असंयम से व्यवहार किया, उनका प्रजा के न्यायपूर्ण क्रोध से विकास व अधिकार पतन हुआ है। शासनिक व्यवस्था पर नियन्त्रण के होते हुये किसी राजा को अत्यधिक निरंकुश होकर एकाधिकार चलाना कठिन था।[81]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मौर्यकाल में राजा स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश न थे। सम्प्रभुता का वास उनमें न होकर जनता में ही था।

81. डा० एम० वी० कृष्णाराव, कौटिल्य अर्थशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० 64।

अध्याय 6

गुप्त काल में सम्प्रभुता

गुप्त राजवंश :

जिस समय मगध साम्राज्य का उदय छठी शताब्दी ई.पू. से आरम्भ हुआ और तीसरी शताब्दी ई० पू० तक जिसने अपनी चरमोन्नति को प्राप्त कर लिया, उसी साम्राज्य को लगभग 500 वर्षों तक इतिहास में गौण स्थान प्राप्त हो जाता है। उसका पुनरुद्धार तब तक नहीं होता जब तक तीसरी शताब्दी में मगध-राज-सिंहासन पर गुप्त वंश आरुढ़ नहीं होता। इतना ही नहीं गुप्त राजाओं के संरक्षण में मगध में जितनी उन्नति की उतनी वह अन्य किसी काल में नहीं कर सका था। गुप्तों के राज्यारोहण के समय बुन्देलखण्ड तथा मध्य प्रान्त में वाकाटक नरेश राज्य कर रहे थे। उत्तरी भारत में कोई भी ऐसी शक्ति न थी जो भारतीय इतिहास की गौरव वृद्धि कर सके। किसी भी प्रभावशाली शासन के अभाव में भारत की एकता को तो खतरा था ही, साथ ही उसकी स्वतन्त्रता के भी हरण का भय था। भारतीय संस्कृति के पौषक भारतीय राष्ट्रीयता के रक्षक तथा भारतीयता के उन्नायक इन गुप्त सम्राटों पर इतिहास को गर्व है। इनमें शस्त्र और शास्त्र का जो समन्वय देखने को मिलता है वह कुछ इन गिने केवल भारतीय सम्राटों में ही प्राप्त होता है।[1]

"कुषणों के पश्चात उत्तरी भारत के अनेक गणतन्त्रों तथा नृपतन्त्रों में विभाजित हो जाने के कारण राजनैतिक एकता छिन्न भिन्न हो गई। इस लुप्त प्राय: राजनैतिक एकता को पुन: स्थापित करने का बीड़ा तीसरी शताब्दी के अन्तिम चरण में उदित होने वाले गुप्त वंश ने उठाया। इन गुप्तों के वर्ण, उत्थान आदि के विषय में विद्वानों में अनेक मतभेद पाये जाते हैं। इनका मुख्य कारण यह है कि गुप्त अभिलेखों एवं मुद्राओं आदि से उनके सामाजिक स्तर का बोध नहीं होता।[2]

---

1. डा० रतिभानुसिंह नाहर, प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 448।
2. जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना (39), पृ० 215।

"महाराजा श्री गुप्त प्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य महाराजधिराज श्री चन्द्रगुप्तपुत्रस्य······श्री सुद्रगुप्तस्य।"[3]

प्रयाग प्रशस्ति के उपरोक्त अंश के आधार पर यह माना जाता है कि गुप्त नामक व्यक्ति गुप्त राजवंश का संस्थापक था। जिसके विरुद्ध महाराज से स्पष्ट होता है कि वह एक सामान्त की स्थिति का रहा होगा। अनेक विद्वानों ने भी इस मत की पुष्टि करते हुए कहा है कि 'महाराज' की उपाधि अधीनतासूचक और 'महाराजधिराज' की उपाधि स्वतन्त्रतासूचक है। चूंकि प्रथम दो गुप्त राजाओं के नाम पहले प्रयाग प्रशस्ति में केवल महाराज का विरुद्ध उपयोग में लाया है और इन दोनों के बाद के अन्य राजाओं का विरुद्ध महाराजाधिराज है इसलिए प्रथम दो गुप्त राजा 'गुप्त' तथा 'घटोत्कच' एक प्रकार से सामान्त की स्थिति वाले राजा रहे होंगे।

इत्सिंग के कथन के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मृग-शिखावान के आसपास का प्रदेश गुप्त के अधीन था। यह प्रदेश पूर्वी उत्तर-प्रदेश अथवा पश्चिमी बिहार (मगध) था। विद्वानों में इस बात पर बड़ा मतभेद है कि पाटलिपुत्र पर 'गुप्त' का अधिकार था अथवा नहीं। एलन, आयगर आदि विद्वानों का मत है कि पाटलिपुत्र 'गुप्त' के अधीन था। परन्तु गांगूली आदि विद्वानों के मत में पाटलिपुत्र के साथ 'गुप्त' का कोई सम्बन्ध नहीं था। कीलहृन, स्मिथ इत्यादि विद्वानों के मतानुसार पाटलिपुत्र गुप्तों के अधीन नहीं वरन् लिच्छिवियों के अधीन था। अतः पाटलिपुत्र का प्रश्न विवादग्रस्त है। अनुमानतः गुप्त का काल 275 ई० लगभग रखा जा सकता है।[4]

घटोत्कच को अभिलेखों में गुप्त का उत्तराधिकारी बताया गया है। मुज्जफर जिले में वैशाली से बहुत सी प्राचीन मुहरें प्राप्त हुई जिनमें से एक पर 'श्री घटो-त्कचगुप्तस्य' उत्कीर्ण है। डा० ब्लाख के अनुसार उक्त मोहरे इसी घटोत्कच की है तथा इस गुप्तवंश के द्वितीय महाराजा श्री घटोत्कच तथा वैशाली मुहर के श्री घटोत्कच गुप्त को एक व्यक्ति है।[5] गुप्त लेखों में घटोत्कच को महाराज कहा गया है। डा० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार गुप्तवंश के इन प्रथम दो राजाओं ने लगभग 240-319 ई० तक शासन किया।[6]

---

3. प्रयाग प्रशस्ति का अंश।
4. डा० विमलचन्द्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 22-23।
5. आरकोलोजीकल सर्व आफ इण्डिया रिपोर्ट, 1903-04, पृ० 102।
6. डा० राधाकुमुद मुकर्जी, प्राचीन भारत, 96।

चन्द्रगुप्त प्रथम : (319-335 ई०)

घटोत्कच के उपरान्त उसका पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम गद्दी पर बैठा। प्रयाग-प्रशस्ति के आधार पर, जिसमें उसे 'महाराजाधिराज' कहा गया है, यह आभास होता है कि उसने अपने राजनैतिक अधिकारों में वृद्धि की थी तथा गुप्त राजवंश के गौरव तथा प्रभुता का वह प्रथम प्रतिष्ठाता था। उक्त सन्दर्भ में वासुदेव उपाध्याय ने भी लिखा है, 'सम्भवतः प्रजातन्त्र शासन की सहायता से वह सम्राट के पद तक पहुंच सका था। इस तरह का प्रभाव तथा शक्ति की वृद्धि से चन्द्रगुप्त प्रथम विशाल राज्य कायम कर सका था तथा 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की।'[7] चन्द्रगुप्त ने लिच्छवि वंश की राजकुमारी कुमार देवी से विवाह किया था। इसकी पुष्टि कुछ मुद्राओं तथा प्रयाग प्रशस्ति के इस अंश से होती है जिसमें समुद्रगुप्त ने स्वयं को लिच्छिवि दौहि कहा है :

"लिच्छवीदोहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य।"[8]

कृष्ण स्वामीऐयंगर का मत है कि लिच्छिवि राजकुमारी से विवाह के पश्चात वैशाली गुप्तों के राज्य के अन्तर्गत हो गया।[9] डा० स्मिथ का उक्त सन्दर्भ में यह मत है कि इस विवाह के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया।[10] यह विचार प्रमाणिक तो नहीं प्रतीत होता किन्तु इसमें कोई विवाद नहीं कि लिच्छिवियों के साथ चन्द्रगुप्त प्रथम की मैत्री गुप्तकाल के सौभाग्य की विधाता सिद्ध हुई।[11] चन्द्रगुप्त के साम्राज्य विस्तार का विवरण वायु पुराण में निम्न प्रकार से मिलता है :

"अनुगंगा प्रयागं च, साकेतं मागधास्तथा।
एतान् जनपदान सर्वान् मोक्षन्ते गुप्तवंशजा।"[12]

चन्द्रगुप्त के साम्राज्य विस्तार के बारे में वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने पराक्रम से शत्रुओं को जीतकर पाटलिपुत्र में फिर से एक साम्राज्य की नींव डाली तथा उस शुभ अवसर पर 'महाराजाधिराज' की

---

7. डा० वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० 32-33
8. प्रयाग प्रशस्ति।
9. कृष्णस्वामी एयंगर, स्टडीज इन गुप्ता हिस्ट्री, पृ० 47।
10. स्मिथ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० 295-96।
11. डा० रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 181।
12. वायुपुराण, 99-383।

पदवी धारण की, उसने अपने राज्य-सीमा का विस्तार गंगा तथा यमुना के संगम तक किया। तिरहुत, दक्षिण बिहार, अवध तथा प्रयाग तक के प्रदेश इसके राज्य के अन्तर्गत थे।[13]

सम्भवतः चन्द्रगुप्त ने अपने राज्याभिषेक की तिथि से 'गुप्त संवत' का प्रवर्तन किया। इस सन्दर्भ में डा० रतिभानु सिंह नाहर ने लिखा है, विभिन्न गणनाओं के आधार पर चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की तिथि 20 दिसम्बर 318 ई० अथवा 26 फरवरी 320 ई० निश्चित होती है। अतः लगभग 319-320 ई. से गुप्त संवत का प्रारम्भ होता है।[14]

प्रयाग प्रशस्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने कुमार देवी से उत्पन्न समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

"स्नेह व्याकुलितेन वाष्प गुरुणा तत्वेक्षिण चक्षुषा।
यः पित्रामिहितो निरिक्ष्यनिखिलां पाह्ये व मुर्वीमिति।"[15]

समुद्रगुप्त : (335-375 ई०)

चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र समुद्रगुप्त सिंहासनारुढ़ हुआ जिसने अपने पराक्रम के आधार पर उसने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। उसने अपनी विजयों के परिणामस्वरूप भारत को नये सिरे से एक राजनीतिक सूत्र में बांध दिया। समुद्रगुप्त के इतिहास को जानने के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री भी प्रयाग प्रशस्ति के रूप में उपलब्ध है। जिसमें उसके बाल्यकाल, शिक्षा, व्यक्तिगत गुण, दिग्विजय तत्कालीन राजनैतिक अवस्था आदि का ज्ञान होता है। यह लेख 'अशोक' के कौशाम्बी के स्तम्भ लेख पर अंकित है जो कि अब कौशाम्बी से इलाहाबाद ले आया गया है। इसके सन्दर्भ में डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है "काल का यह अद्भुत व्यंग है कि अशोक के शान्तिप्रद आभार उपदेशों के साथ ही समुद्रगुप्त की रक्त रंजित विजयों का परिगणन समान स्तम्भ पर हो।"[16]

प्रयाग प्रशस्ति के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। 'सम्भवतः कांच

---

13. वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० 34।
14. डा० रतिभानु सिंह नाहर, पूर्वोक्त, 457।
15. प्रयाग प्रशस्ति।
16. डा० रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 183।

उसका ज्येष्ठ भ्राता था जो राज्य के लिए उत्सुक था किन्तु योग्यता तथा राज्य प्रबन्ध की क्षमता रखने के कारण समुद्रगुप्त सिंहासन का स्वामी घोषित किया गया। सम्भव है उसके बाद राज्याधिकार का गृहयुद्ध हुआ हो जिसमें कांच थोड़े समय के लिए राजा बन बैठा। इस कारण से उसने स्वर्ण मुद्रा भी तैयार करायी। यदि यह सही हो तो यह मानना युक्ति संगत होगा कि कांच को हराकर समुद्रगुप्त ने शासन अपने हाथ में ले लिया था।[17]

समुद्रगुप्त एक महान प्रतापी एवं महत्वाकांक्षी सम्राट सिद्ध हुआ। सिंहासनरुढ़ होने के पश्चात उसने दिग्विजय की योजना बनायी। इस कारण उसे अनेक युद्ध करने पड़े। वह आजीवन अजेय रहा। इन विजयों का उल्लेख प्रयाग प्रशस्ति द्वारा ही होता है। प्रयाग प्रशस्ति के रचनाकार समुद्रगुप्त के 'सन्धि विग्रहिक' हरिषेण ने इन विषयों के वर्णन में तिथि परख की अपेक्षा भौगोलिक क्रम को मान्यता दी है।

सर्वप्रथम समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त (उत्तर भारत) को विजित किया। इन राज्यों को समुद्रगुप्त ने कठोर नीति का अनुसरण करते हुए अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस क्षेत्र में विजित राजाओं की सूची में निम्नलिखित नाम आते हैं :

1. रुद्रदेव
2. मतिल
3. नागदत्त
4. चन्द्रवर्मन
5. गणपति नाग
6. नागसेन
7. नन्दिन
8. अच्युत
9. बलवर्मन।

उपरोक्त नौ राजाओं में रुद्रदेव, नागदत्त, नागसेन, नन्दिन तथा बलवर्मन का किसी अन्य प्रमाणिक स्रोत द्वारा ज्ञान नहीं होता है। बुलन्दशहर में प्राप्त एक मुहर द्वारा मतिल का ज्ञान होता है। इसी प्रकार महरौली के लोह स्तम्भ लेख तथा सुसानिया पर्वत पर मिले शिलालेख में चन्द्रवर्मन का वर्णन है। कुछ

---

17. डा० वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० 39।

सिक्कों द्वारा गणपति नाग का पता चलता है। बलवर्मन को विद्वान आसाम का राजा मानते हैं।

उत्तरी भारत के इन राजाओं को उन्मूलित कर समुद्रगुप्त दक्षिण विजय की ओर अग्रसित हुआ परन्तु मध्य में आटविक राज्यों को परास्त कर उन्हें अपना सेवक बनाया। प्रयाग प्रशस्ति में स्पष्ट लिखा है—-

"पारिचारको कृत सर्वाटविकराजसम।"[18]

प्रयाग प्रशस्ति में इन आरविक राजाओं की संख्या तथा नामों का उल्लेख नहीं किया गया है।

उत्तर-भारत में अपनी स्थित सुदृढ़ करने के पश्चात समुद्रगुप्त ने दक्षिण विजय अभियान जारी किया। दक्षिण के सम्बन्ध में समुद्रगुप्त की नीति उदारवादी रही अर्थात उन्हें युद्ध में परास्त करने के उपरान्त उनका राज्य उन्हीं को वापिस कर दिया। इस सम्बन्ध में तत्कालीन परिस्थितियों में पूरे भारतवर्ष का एक राजधानी से शासन चलाना बड़ी कठिन बात थी। संचार व्यवस्था नहीं थी, आवागमन के साधनों का अभाव था, मार्ग बीहड़ तथा उबड़-खाबड़ थे। सम्भवतः समुद्रगुप्त ने उपरोक्त कारणों के साथ उदारवादी नीति का पालन किया। प्रयाग प्रशस्ति के आधार पर ये राजा निम्न थे :

1. कौशल का महेन्द्र
2. महाकान्तर का व्याघ्रराज
3. कोरल (झील) का भन्तराज
4. पिष्ठपुर का महेन्द्र
5. कोटूर का स्वामीदत्त
6. एरन्द्रपल्ल (खानदेश) का दमन
7. कांची का विष्णुगोप
8. अवमुक्त का नीलरान
9. वेगी का हस्तवर्मन
10. पल्लक (पालघाट) का उग्रसेन
11. देवराष्ट्र (महाराष्ट्र) का कुबेर
12. कुस्थलपुर (द्वारका) का धनन्जय

प्रोफेसर जूम्बी दुब्रीय ने उपरोक्त दक्षिण उदारवादी नीति के सम्बन्ध में

18. प्रयाग प्रशस्ति।

लिखा है "समुद्रगुप्त ने प्रारम्भ में तो कुछ राजाओं को जीत लिया परन्तु कुछ समयोपरान्त ही उसे अधिक बलशाली शक्तियों से टक्कर लेनी पड़ी और इसलिए अपने विजित प्रदेशों को छोड़कर अपने राज्य की ओर तेजी से लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा।[19] डा० सिन्हा ने उपरोक्त मत का खण्डन करते हुए लिखा है इस मत का कोई सबल आधार नहीं है। ऐसा लगता है कि समुद्रगुप्त निश्चय ही सुदूर दक्षिण के चेरी राज्य तक पहुंच गया तथा महाराष्ट्र और खान देश के रास्ते अपने देश लौटा।[20]

पूर्व सीमा के प्रान्तीय राज्यों ने समुद्रगुप्त की विजयों से भयभीत होकर उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। ऐसे राज्य निम्न थे :

1. समतट
2. दवाक
3. कामरूप
4. नेपाल
5. कतृपुर

प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार पश्चिमी सीमा पर निम्नलिखित 9 जातियों के गणराज्य थे जिन्होंने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की थी। ये पश्चिमी सीमा के गणराज्य निम्नलिखित थे :

1. मालव
2. आर्जुनायन
3. योधेय
4. माद्रक
5. आभीर
6. प्राणार्जुन
7. सनकानीक
8. काक
9. खरपरिक।

प्रयाग के स्तम्भ के आधार पर यह भी पता चलता है अपनी विजयों को पूर्ण करने के उपरान्त समुद्रगुप्त ने एक "अश्वमेध यज्ञ" किया। कुछ सोने की मुद्राओं जो कि ब्राह्मणों को उक्त समय दान में दी गई थीं प्रयाग प्रशस्ति में

---

19. प्रो० जूनी ब्रुव्रीय, एनशियन्ट हिस्ट्री आफ दी डेकर, पृ० 60।
20. डा० विनोद चन्द्र सिन्हा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 118।

इस अश्वमेघ यज्ञ का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है प्रयाग प्रशस्ति के लेखन के बाद ही यह अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न हुआ।

समुद्रगुप्त युद्ध नीति तथा रणकौशल में निपुण था। उसे शास्त्रों का भी ज्ञान था। वह संगीतकला का पारखी था। अतः उसे उसकी मुद्रा पर वीणा बजाता हुआ खिलाया गया है। समुद्रगुप्त के लिए राखालदास बनर्जी ने लिखा है, 'समुद्रगुप्त एक महान सम्राट था, सम्भवतः अपने वंश में वह महानतम था। उसे एक छोटा सा राज्य उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था परन्तु उसने अपने उत्तराधिकारी को एक साम्राज्य छोड़ा।[21]

रामगुप्त :

बहुत समय तक अभिलेखों के आधार पर यह स्वीकार किया जाता रहा कि समुद्रगुप्त के पश्चात चन्द्रगुप्त द्वितीय शासक हुआ। परन्तु कुछ साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर यह माना जाने लगा कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त गद्दी पर बैठा। विशाखदत्त द्वारा लिखित 'देवी चन्द्रगुप्तम' नामक नाटक के अनुसार सम्भवतः उसके गद्दी पर बैठते ही, शकों ने उसके साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया और उसको हिमालय के पास किसी गिरि दुर्ग में घेर लिया। विवशतः रामगुप्त को शकों से अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी और अपनी रानी ध्रुवदेवी को शकों को समर्पित करने की शर्त भी स्वीकारनी पड़ी। परन्तु चन्द्रगुप्त ने उक्त शर्तें स्वीकार नहीं की और स्वयं ध्रुवदेवी का वेश धर वहां पहुंच कर शक-राजा को मार दिया।

इसी प्रकार के प्रमाण बाणकृत हर्षचरितम, हर्षचरित के टीकाकार शंकरार्क ने राजशेखकर कवि के ग्रन्थ काव्य मीमांसा आदि में भी इस प्रकार के उदाहरण उद्धृत किये गये हैं कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त शासक हुआ।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य (375-414 ई.) :

रामगुप्त के पश्चात चन्द्रगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा। समुद्रगुप्त के कई पुत्र थे। इसका ज्ञान एरण का अभिलेख करता है जिसमें आया है

गृहेषु मुदिता बहुपुत्रपौत्र
संकामणी कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा

समुद्रगुप्त के कई पुत्रों में रामगुप्त तथा चन्द्रगुप्त दो पुत्रों के नाम ही मिलते

---

21. शाखालदास बनर्जी, गुप्त युग, पृ. 23।

हैं। चन्द्रगुप्त, रामगुप्त से छोटा था। चन्द्रगुप्त की माता का नाम दत्तादेवी था। उसकी दो पत्नियों के नाम क्रमशः ध्रुवदेवी तथा कुबेरनागा मिलते हैं।

सिंहासन पर बैठने के पश्चात चन्द्रगुप्त ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि से स्वयं को सुशोभित किया। 'चन्द्रगुप्त को अपने पिता समुद्रगुप्त का विशाल साम्राज्य मिला था। अत: चन्द्रगुप्त द्वितीय को साम्राज्य निर्माण करने का कठिन कार्य नहीं करना पड़ा।'[22] उसमें अपने पिता की सामरिक प्रतिभा विद्यमान थी। जिस समय चन्द्रगुप्त सिंहासनारुढ़ हुआ उस समय भारत की विभिन्न जातियां एवं राज्यों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। क्योंकि समुद्रगुप्त द्वारा दमन किये हुये गणराज्य, आश्विक राज्य, आर्य वृत के राज्य दक्षिण पथ के राज्य प्रत्यन्त राज्य आदि स्थाई रूप से दासता के चुंगल से नहीं निकल सके थे। समुद्रगुप्त के बाद शकों ने अपनी शक्ति रामगुप्त के शासनकाल में अत्यधिक बढ़ा ली थी। इसलिए चन्द्रगुप्त के सक्षम सर्वप्रथम समस्या शकों का दमन करने की थी। अपने साम्राज्य के भीतर शान्ति स्थापित तथा सीमा प्रान्तों को पूर्णरूपेण अपने वश में करना भी चन्द्रगुप्त के प्रथम कार्यों में से था। इन कार्यों से निबटने के लिए उसते वाकाश्को को अपने सम्बन्धी बनाया। अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह उसने पृथ्वीसेन प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय से किया। जिसमें उसको शकों को परास्त करने के लिए पर्याप्त मदद मिली थी। इसी प्रकार नागवंशीय कुबेरनागा से विवाह कराकर नागों से अपना सम्बन्ध जोड़ा।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल की प्रमुख घटना शकों पर विजय मानी जाती है। उदयगिरि में प्राप्त अभिलेख से चन्द्रगुप्त द्वारा शकों पर आक्रमण के विवरण पर प्रकाश पड़ता है। जिसमें उल्लेख है कि राव वीर सेन (जो कि समुद्रगुप्त का सन्धि विग्रही था और जिसने उदयगिरि का अभिलेख उत्कीर्ण कराया था) सारी पृथ्वी की जय कामना करते हुये स्वयं अपने राजा के साथ यहां आया। इस अभिलेख तिथि का अभाव है। शक-विजय की तिथि के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वानों ने शक शासन का अन्त 388 और 397 के मध्य और कुछ 409 और 414 के मध्य माना है। इस विजय से चन्द्रगुप्त ने न केवल विदेशियों को भारत से पृथक किया प्रत्युत उसने अपने राज्य सीमा के अन्तर्गत काठियावाड और गुजरात जैसे प्रदेशों को सम्मिलित करके अपने साम्राज्य का विस्तार बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक कर दिया।

चन्द्रगुप्त के युद्ध सचिव शाक के लेख से यह पता चलता है कि चन्द्रगुप्त

---

22. डा. रमेशचन्द्र मजूमदार, एनशियन्ट इण्डिया, पृ. 233।

द्वितीय विश्व विजय करने चला था। चन्द्रगुप्त का सेनानायक आम्रकरदेव जिसके बारे में यह प्रख्यात है कि उसने कई विजयों द्वारा ख्याति पाई। परन्तु इन विजयों के प्रमाणों का अभाव है।

दिल्ली की कुतबमीनार के समीप महरौली स्तम्भ है। इसमें निम्न उल्लेख मिलता है :

यस्योद्धतैयत: प्रत्तीपमुरसा शत्रून समेत्यागतान् ।
बंगेष्वाहवबर्तिनोभिलिखिता खंगेनकीर्तिभुजैं,
तीत्वी सत्यमुखानियेन समरे सिन्धोजिता वाल्हिका :[23]

इसके अनुसार सिन्धु नदी सात मुखों की पार करके वल्हिक (बल्ख) के शासकों को चन्द्र नामक राजा ने परास्त किया था। यह 'चन्द्र' कौन है इस पर विद्वानों में पर्याप्त मत-विभिन्नता है। शखालदास बनर्जी तथा हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वान इस चन्द्र को बंगला के सुसानिया वाले लेख का पोखरण राजा चन्द्रवर्मन मानते हैं। डा. बसाक और डा. फ्लीटन इसे चन्द्रगुप्त प्रथम तथा रायचौधरी उसे सदानन्द अथवा चन्द्रांश माना है। डा० स्मिथ तथा उनके समर्थक इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय मानते हैं।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के समय उसका साम्राज्य काठियावाड से पूर्वी बंगाल तक तथा हिमालय पर्वत से नर्मदा नदी तक विस्तृत था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के जितने अधिक सोने, चांदी के सिक्के प्राप्त हुए हैं उतने न तो उसके पिता समुद्र गुप्त के मिले हैं और न उसके पुत्र कुमार गुप्त के।[24]

चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में चीनी यात्री फाह्यान ने भारत यात्रा की थी। वह भारत में 399 से 424 ई. तक रहा। उसने चन्द्रगुप्त द्वितीय कालीन राजनीतिक दशा, सामाजिक दशा, धार्मिक दशा, का वर्णन किया है। इससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त के शासकाल में भारत सभी क्षेत्रों में पर्याप्त उन्नति कर चुका था।

कुमारगुप्त प्रथम (414-455)

कुमारगुप्त के इतिहास को जानने के निम्नलिखित मुख्य स्रोत हैं : विलसद का स्तम्भ लेख, गढ़वा के दो शिलालेख, मन्दसौर का शिलालेख, सांची का अभिलेख, करमदण्डा का अभिलेख, मनकुवांर का अभिलेख तथा उदयगिरि का

23. महरौली के लोहस्तम्भ लेख,
24. डा. विनोदचन्द्र सिन्हा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 120।

गुहा लेख। तामपत्रों में धनैदह का ताम्रपत्र दामोदर के दो तामपत्र तथा कँग्राम का ताम्रपत्र।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र कुमारगुप्त प्रथम राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। कुछ लोगों का विश्वास है कि अपने भ्राता गोविन्दगुप्त को हटा कर वह गद्दी पर बैठा किन्तु इसकी पुष्टि के लिये संतोषजनक प्रमाण नहीं मिलते।[25] डा. भण्डारकर ने सर्वप्रथम इस तथ्य की ओर संकेत किया था कि कुमारगुप्त प्रथम शान्तिपूर्वक पैतृक सिंहासन नहीं प्राप्त कर सका था परन्तु कुछ समय बाद उन्होंने गोविन्दगुप्त और कुमारगुप्त को एक ही व्यक्ति स्वीकार कर लिया।[26]

चन्द्रगुप्त के सांची लेख से यह विदित होता है कि वह 412-13 में राज्य कर रहा था। विलसद लेख से कुमार गुप्त प्रथम की 415 ई. की तिथि मिलती है। अतः यह अनुमान उचित प्रतीत होता है कि लगभग 414 ई. में कुमार गुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। कुमारगुप्त की एक रजतमुद्रा से उसकी अन्तिम तिथि 455 का ज्ञान होता है।[27]

विलसद अभिलेख से ज्ञात होता है कि उस समय कुमार गुप्त ने अपनी विजययात्रा प्रारम्भ कर दी थी। कर्मदाण्डा 436 ई. का अभिलेख यह दर्शाता है कि उसका यश चारों समुद्रों तक फैल गया था। कुमार गुप्त प्रथम के सिक्के अहमदाबाद, बलभी, जूनागढ़ और मोरबी तक मिले हैं जिनसे यही तात्पर्य लगाया जा सकता है कि उसके राज्यकाल में गुप्त साम्राज्य का कम विस्तार न हुआ। दक्षिण के सतारा जिले में मिले सिक्के बरार में एलिचपुट में मिले सिक्के यह संकेत देते हैं कि कुमारगुप्त ने दक्षिण के कुछ प्रदेशों को भी जीता था। इस प्रकार अभिलेखों के विवरण से यह प्रमाणित होता है कि उसने अपनी प्रभुता और साम्राज्य को अन्त तक बनाये रखा। उसका साम्राज्य पूर्व में बंगाल पश्चिम में सौराष्ट्र तक तथा उत्तर में हिमालय तक तथा दक्षिण में नर्मदा तक फैला हुआ था।

कुमारगुप्त के राज्यकाल की एक प्रमुख घटना उसके द्वारा अश्व मेघ-यज्ञ करना भी है इसकी पुष्टि उसकी एक मुद्रा करती है। इसके अग्रभाग पर

---

25. डा. वासुदेव उपाध्याय—गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ. 91।
26. ऐपिग्राफिया इण्डिया, भाग 19।
27. डा. विनोदचन्द्र सिन्हा, पूर्वोक्त, पृ. 122।

'दवोजित शत्रु कुमार गुप्तोधिराज और पृष्ठ भाग पर अश्वमेघ-महेन्द्रः उत्कीर्ण। इसी मुद्रा द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि उसने महेन्द्रादित्य की उपाधि धारण की थी। स्कन्दगुप्त के भितरी अभिलेख से कुमारगुप्त के राज्यकाल की अन्य प्रमुख घटना का पता चलता है कि कुमारगुप्त के कुछ शत्रुओं, जैसे पुष्यमित्रों और हूणों ने उसके साम्राज्य के लिए संकट उपस्थित कर दिया था। उनके आक्रमणों का प्रत्युत्तर देने के लिए कुमारगुप्त प्रथम ने अपने सुयोग्य पुत्र स्कन्द गुप्त को भेजा। यह युद्ध अत्यन्त भयंकर हुआ। जिससे स्कन्दगुप्त ने विजयश्री को वरण किया था। हूणों की समयों का तत्कालीन निदान कर दिया था।

स्कन्दगुप्त (455-467 ई.) :

डा. मजूमदार और श्री गंगूली का मत है कि कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसके दो पुत्रों-पुरुगुप्त और स्कन्दगुप्त में सिंहासन के लिए युद्ध हुआ। इस युद्ध में स्कन्दगुप्त विजयी हुआ और सिंहासन पर बैठा।[28] कुमारवस्था में राज्य प्रबन्धों में सहयोग करने, तथा अधिक योग्यता के कारण स्कन्दगुप्त अपने पिता की मृत्यु के पश्चात उत्तराधिकार युद्ध में (अगर यह हुआ होगा) विजयी हुआ।

भितरी स्तम्भ से ज्ञात होता है कि उसने गुप्त साम्राज्य की गिरती हुई अवस्था को अपनी विजयों द्वारा एक बार फिर से सुदृढ़ बनाया। जूनागढ़ शिला-अभिलेख में ज्ञात होता है कि उसने अनेक शत्रुओं को दबाया। (कहोम स्तम्भ अभिलेख से ज्ञात होता है कि सैकड़ों नरेशों ने उसका आधिपत्य स्वीकार किया।

स्कन्दगुप्त की सबसे बड़ी उपलब्धि हूणों को परास्त करना है। डा० विनोद चन्द्र सिन्हा ने लिखा है, 'हूण उत्तरी पश्चिमी दरों से भारत भूमि पर उतर पड़े थे तथा उन्हें परास्त करना कोई आसान कार्य न था। फिर भी स्कन्दगुप्त ने जिस अदम्य साहस का परिचय दिया इतिहास में वह बेजोड़ है। भयंकर युद्ध में स्कन्दगुप्त ने हूंणों को परास्त किया परन्तु बर्बर जाति की अनवरत चोटों के बाद में गुप्त साम्राज्य को हिला दिया।[29] उपरोक्त हूणो की पराजय का विवरण तथा सरितसागर में भी उपलब्ध होता है।

स्कन्दगुप्त ने अपने पूर्वजों से प्राप्त साम्राज्य पर इस प्रकार सुचारू रूप से

---

28. डा. विमलचन्द्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 107।
29. डा. विनोदचन्द्र सिन्हा, पूर्वोक्त, पृ. 123।

शासन किया उसके साम्राज्य में उत्तरी भारत, मध्यप्रदेश, मालवा तथा गुजरात सम्मिलित थे।

सुदर्शन झील के बांध के पुनर्निर्माण की घटना स्कन्दगुप्त के शासनकाल की प्रमुख घटना मानी जाती है। इसका निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य ने कराया था और अशोक ने सिंचाई के लिए उसमें से नहरों का सृजन कराया था। इसके पश्चात रुद्रदामन ने 150 ई० के लगभग इसका जीर्णोद्धार कराया था। स्कन्दगुप्त के शासनकाल में इस झील का बांध टूट गया था जिसको उसके पुत्र चन्द्रपालित ने जो गिरनार का शासन था एक बहुत बड़ी धन राशि व्यय करके उसे ठीक कराया था।

उत्तरवर्ती गुप्तनरेश :

गुप्तवंश के इतिहास में स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों के नामों के एकीकरण की बड़ी जटिल समस्या है। किसी भी गुप्त अभिलेख से अभी तक यह विदित नहीं होता कि उसका कोई पुत्र भी था। अतएव विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अन्तिम सम्राट स्कन्दगुप्त के पश्चात गुप्त सिंहासन पर उसका भाई पुरुगुप्त बैठा।[30] उत्तरवर्ती गुप्त नरेशों की सूची निम्नतः प्राप्त होती है :

1. पुरुगुप्त प्रकाशादित्य
2. नरसिंहगुप्त बालादित्य
3. कुमारगुप्त द्वितीय
4. बुद्धगुप्त
5. भानुगुप्त
6. वज्र।

पुरुगुप्त स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई था जो 467 ई० के लगभग वृद्धावस्था में गद्दी पर बैठा था। इसके सिक्कों पर 'प्रकाशादित्य' और 'श्री विक्रम' की उपाधियां अंकित हैं। इसके समय में इसका चाचा गोविन्द गुप्त मालवा में स्वतन्त्र शासक बन बैठा। 468 ई० के पूर्व ही उसके शासन का अन्त हो गया।

पुरुगुप्त के बाद उसका पुत्र नरसिंह गुप्त शासक हुआ। ऐसा माना जाता है कि उसने चार वर्ष तक शासन किया। नरसिंह गुप्त के पश्चात 'कुमार गुप्त' शासक हुआ, इसका शासन भी अधिक समय न रहा इसने 473 ई. से 476 ई. तक

---

30. डा. भूपेशचन्द्र सक्सेना, गुप्तकालीन भारत, पृ. 154।

राज्य किया। कुमार गुप्त के पश्चात 'बुद्ध गुप्त' सिंहासनारूढ़ हुआ। बुद्ध गुप्त के काफी मात्रा में सिक्के और अभिलेख प्राप्त होते हैं। इसने लगभग 476 से 496 ई० तक शासन किया। बुद्ध गुप्त की अन्तिम तिथि 496 ई० प्राप्त होती है। इसके पश्चात भानुगुप्त राजा हुआ। भानुगुप्त के समय में मालवा पर हूणों ने अपना प्रभुत्व कायम कर लिया था। ह्वेनसांग द्वारा एक वज्र नामक शासक का वर्णन किया गया है जो कि बुद्धगुप्त का प्रपौत्र तथा बालादित्य का पुत्र था। 'डा० रायचौधरी का अनुमान है कि मालवा के राजा यशोवर्मन ने लोहिदित्य (ब्रह्मपुत्र) की विजय-यात्रा में वज्र को मार डाला। जिससे गुप्त नरेश बुद्ध गुप्त वंश का अन्त हो गया। सामन्त धीरे-धीरे स्वतन्त्र होने लगे। वैसे तो छोटे-छोटे अनेक गुप्त राजा शताब्दियों तक राज्य करते रहे परन्तु मुख्य गुप्त राजवंश का अन्त छठी शताब्दी के पूर्वान्ह में हो गया था।

गुप्तकाल में राजा :

जिस प्रकार मौर्यकाल में राजा की स्थिति 'कूटस्थानीय' थी। उसी प्रकार गुप्तकाल में भी राजा की स्थिति केन्द्रिय थी। गुप्तराजवंश के अनेक राजा चक्रवर्ती हुए। चक्रवर्ती के आदेशानुरूप पराक्रमांक समुद्रगुप्त ने भारतवर्ष की राजनैतिक एकता के लिए 'धराणिबन्ध' और सर्वपृथ्वी विजय' अपना राज कर्तव्य निर्धारित किया था और इसमें वह बहुत हद तक सफल भी हुआ। उसके महान उत्तराधिकारियों—चन्द्रगुप्त द्वितीय, विक्रमादित्य, कुमार गुप्त प्रथम व स्कन्दगुप्त ने भी चक्रवर्ती के आदेशानुरूप भारत को एक राजनैतिक सूत्र में आबद्ध रखा जिस कारण गुप्त अभिलेखों में उनके सुयश को 'चतुरुदधिसलिलास्वादित' और उनके राज्य को 'चतुरुदधिजलान्तां स्फीत-पर्यन्त देशाम' तथा चतुस्समुद्रान्त को उनके साम्राज्य की बिललोल मेखला कहा गया है। अपने इस व्यापक प्रभुता तथा सार्वभौमिकता के अनुरूप गुप्त राजाओं ने उच्चतम उपाधियां धारण की थी।[31] विभिन्न सिक्कों और अभिलेखों में उनकी जो उपाधियां मिलती हैं वे निम्नतः हैं : महाराजा धिराज,[32] राजाधिराज,[33] एकाधिराज,[34] परमभट्टाकार, पृथ्वीपति, परमदेवता।[35]

---

31. प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी, भारत का स्वर्ण युग, पृ. 293।
32. करोप्स इन्सक्रीपशन्यूम इन्डीकोरुम वाल्यूम, 3 पृ. 43।
33. पूर्वोक्त, पृ. 35।
34. पूर्वोक्त, पृ. 141।
35. पूर्वोक्त, पृ. 25।

कालीदास और गुप्त अभिलेखों में राजा के शासक-रूप के लिए 'गोप्ता' शब्द का प्रयोग हुआ है। गुप्त शासन में प्रान्तीय शासक भी गोप्त कहलाता था। स्कन्दगुप्त ने अपने जूनागढ़ वाले लेख में सौराष्ट्र के कठिन गोप्त पद के लिये उचित व्यक्ति चुनने के अर्थ विचार करते-करते दिन रात एक कर दी है। उस अभिलेख में शासक के लिये अपेक्षित गुणों की एक लम्बी सूची दी हुई है। इसी प्रकार कुमारगुप्त प्रथम और बन्धुवर्मा के मन्दसौर के शिलालेख में गोप्ता को राज्य का रक्षक और महापुरुषों का नेता कहा गया है।[36]

कालीदास के अनुसार राज्य वन की भांति है जहां बलवान पशु दुर्बल पशु को नष्ट कर देता है, गोप्ता रूप में राजा का कर्तव्य है कि वह राज्यारोहण करते ही राज्य में दुष्टों को आक्रांत कर ले जिससे बलवान दुर्बल को न सतायें।[37]

गुप्तों की परमेश्वर, परमदैवत, महाराजधिराज व राजधिराज आदि राज वालियों में निःसन्देह यूनानियों व कुषाणों की उच्चतम उपाधियों का अनुकरण प्रतिबिम्बित होता है, लेकिन इन उपाधियों से यह अनुमान करना गलत होगा कि गुप्तवंशीय राजा राजत्व को देव-प्रदत्त मानते थे और इस भावना को उन्होंने प्रचारित किया था। डा० मजूमदार तथा दिनेशचन्द्र सरकार समझते हैं कि चूंकि प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम के समान ही नहीं 'लोक में रहने वाला देवता' भी कहा गया है, इसलिए गुप्त राजा राजत्व को देवप्रद और राजा को देवरूप मानते थे। किन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्रयाग प्रशस्ति के समुद्रगुप्त के लिए यह भी कहा गया है कि वह शास्त्र के तत्वार्थ का समर्थन करने वाला अथवा शास्त्र का ज्ञाता था, वह धर्म की मर्यादा स्थित रखने वाला (धर्म प्राचीरबंधः) था और उसने सूक्तों का मार्ग (वेद अथवा शास्त्र विहित मार्ग) अपना उद्देश्य बनाया था अर्थात वह शास्त्र विहित मार्ग पर चला करता था, (अध्येयः सूक्त मार्ग), तथा वह लोक-नियमों का अनुष्ठान व पालन करने वाला था।[38]

गुप्त राजवंश के उत्तराधिकारी के नियम यह प्रमाणित करते हैं कि गुप्त राजा राजपद को देवप्रद नहीं वरन योग्यता पर आधारित मानते थे। चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने पुत्रों में समुद्रगुप्त को उसके महान गुणों और चरित्र आर्यता के आधार पर दरबार में अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। इसी प्रकार

---

36. डा. भगवतशरण उपाध्याय, गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 298।
37. कालीदास; रघुवंश, 2, 14।
38. प्रो. भगवतीप्रसाद पांथरी, भारत का स्वर्गयुग, पृ. 294-95।

समुद्रगुप्त ने भी गुणों की प्राथमिकता देते हु ये अपने सुपुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय को उत्तराधिकारी बनाया था। सम्भवतः ये गुप्त सम्राट कौटिल्य के अनुसार ही राज्याधिकार पाने वाले युवराज को दण्डनीति आदि अन्याय विद्याओं में निपुण और समर्थवान होना चाहिये। कौटिल्य ने लिखा है :

'विद्याविनीतो राजा ही प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां पृथ्वी भुक्तै सर्वभूतहिते रतः।'[39]

गुप्त काल में राजपद एक महत्वपूर्ण दायित्व माना गया है। जिसे निभाने के लिए राजा को अपने सुखों का त्यागकर जागरूकता के साथ-साथ राजकर्म में तल्लीन रहना पड़ता था।

गुप्त राजा प्रजा के हितों की रक्षा करना, उनकी सुख समृद्धि का ध्यान रखना अपना परम कर्तव्य मानते थे। स्मृतियों में भी राजा को प्रजापालक व प्रजाहित के लिए सदैव सचेत रहने का उल्लेख है। राजा की भी यही स्वीकारोक्ति है कि प्रजा के सुखी होने पर राजा सुखी होता है, उसकी कीर्ति बढ़ती है तथा उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शासन में सर्वोच्च स्थिति होते हुए भी वे प्रजा के प्रति उत्तरदायी थे।

मन्त्रिपरिषद तथा उच्चाधिकारी :

'राजसत्ता का उपभोग, सहयोग तथा पारस्परिक सद्भावना के आधार पर किया जाना चाहिये। अतः राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह सहयोग तथा सत्परामर्श प्राप्त करने के लिए 'मन्त्रि-परिषद' की नियुक्ति करे। कौटिल्य की इस मौर्ययुगीन राजनैतिक मान्यता का अनुशीलन करते हुए, गुप्त शासकों ने मन्त्रिपरिषद का गठन किया।[40] गुप्तों के शासन में मन्त्री संभवतः अनेक होते थे यद्यपि गुप्त राजाओं के किसी अभिलेख में 'अमात्य परिषद' अथवा 'मन्त्रि-परिषद' का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। गुप्तकालीन समूचे साहित्य से बार-बार मन्त्रियों की अनेक सूचना मिलती है। अभिलेखों में जो 'सन्धिविग्रहिक', शान्ति और युद्ध के मन्त्री का उल्लेख आया है उससे प्रकट होता है कि उसके अतिरिक्त भी मन्त्रि थे।

मालविकाग्निमित्र में कालीदास ने दर्शाया है कि राजा ने जब, अपने राज्य

---

39. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1/5।
40. डा. ईश्वरीप्रसाद, प्राचीन भारतीय संस्कृति, राजनीति, धर्म तथा दर्शन, पृ. 176।

का एक भाग अपने सम्बन्धी यज्ञसेन और माधवसेन को देना चाहा था तो ऐसा करने में उसने अपने मन्त्रिपरिषद व अमात्यों की सलाह लेना उचित समझा था।

जिस प्रकार कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा को मन्त्रियों में मन्त्रणा करने तथा मन्त्रणा के विषयों को पूर्णतया गोपनीय रखने का निर्देश दिया है।[41] उसी प्रकार कालीदास ने भी मन्त्रिपरिषद की कार्यवाही को गुप्त रखे जाने पर बल दिया है :

तत्य संवृतमन्त्रस्य गूढ़ाकारेंगितस्य च।
फलानुमेया: प्रारम्भा: संस्कारा: प्राक्ताना इव ।।[42]

'आदर्श हिन्दू राजा के शासन-प्रबन्ध में सहायता करने के लिये अमात्यों को विद्वान, न्यायी तथा अन्य विशिष्ट गुणों से युक्त होना आवश्यक होता था। प्राचीन नीतिकारों ने भी मन्त्रियों के गुणों का वर्णन करते हुए उसे पवित्र, विचारशील, विद्वान, सत्यवादी, न्यायप्रिय पक्षपातरहित, वीर तथा कुलीन होना राजप्रबन्ध के योग्य बतलाया है। स्मृतिकारों का कथन है कि इन गुणों के साथ यदि अमात्य परम्परागत मन्त्रि कुल का हो तो अधिक उपयोगी होता है। यदि गुप्त लेखों का अध्ययन किया जाय तो स्मृतियों में उल्लिखित आदर्श मार्ग की अक्षरश: पुष्टि होती है। गुप्त सम्राट की विद्वान तथा योग्य व्यक्ति को मन्त्री के पद पर नियुक्त करते थे।[43]

साम्राज्य के मुख्य-मुख्य पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों को 'कुमारा-मात्य' कहते थे। कुमारामात्य राजघराने के भी होते थे और दूसरे लोग भी। साम्राज्य के विविध अंगों-युक्ति विषयों आदि का शासन करने के लिए जहां इनकी नियुक्ति की जाती थी, वह सेना न्याय आदि के उच्च पदों पर भी ये कार्य करते थे। कुमारामात्य साम्राज्य की स्थिर सेवा में होते थे, और शासन-सूत्र का संचालन इन्ही के हाथों में रहता था।[44]

गुप्तकालीन केन्द्रीय प्रशासन के विभिन्न पदाधिकारियों के नाम निम्न-लिखित थे :

---

41. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 15/1।
42. कालिदास, रघुवंश, सर्ग 1 श्लोक 20।
43. डा. वासुदेश उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास-2, पृ. 8।
44. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र पृ. 263।

1. महाबलाधिकृत
2. महादण्डनायक
3. महाप्रतिहार
4. महासन्धिविग्रहक अथवा सन्धिविग्रहक
5. दण्डपाशिक
6. भाण्डागाराधिकृत
7. महाक्ष-पटलिक
8. विनयस्थितसंस्थापक
9. सर्वाध्यक्ष
10. महाश्वपति
11. महामहीपीलपति
12. विनयपुर
13. युक्तपुरुष
14. खाद्यात्पाकिका[45]

इन अधिकारितों की नियुक्ति के चयन में गुप्त नरेश बहुत विवेक सतर्कता और जागरूकता बरतते थे। इन पदों पर नियुक्त होने के लिये जिन गुणों का समावेश व्यक्ति के अन्दर होना चाहिये जूनागढ़ अभिलेख में निम्नतः दिया है :

'मेघा-स्मृतिघ्यामनपेत-भावः ।
सत्याजेवौंदाये-नयोपपन्नो,
माधुर्यं दक्षिण्य-यशोन्वितश्च ।।
भक्तो नुरक्तो नुविशेष-युक्तः
सव्वोपधामिश्च विशुद्ध बुद्धिः
अनृष्य भावोपगतान्तरात्माः
सव्वेस्य लोकस्य हिते प्रवृतः[46]

सामन्त पद्धति का उदय :

गुप्तकाल का सर्वेक्षण करने पर एक जो नई और महत्वपूर्ण बात ज्ञात होती है वह है सामन्त पद्धति का विकास। मौर्यकाल में सामन्त पद्धति का विकास नहीं हुआ था। तत्कालीन समय में जनपदों की सत्ता विद्यमान थी। परन्तु इन जनपदों

45. डा. ईश्वरीप्रसाद, पूर्वोक्त, पृ. 176, 177।
46. जूनागढ़ अभिलेख, परि.।

में अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार के अक्षुण्ण रहते हुये भी उनके पृथक राजा और पृथक सेनायें नहीं थे। इन जनपदों की विभिन्न प्रकार की शासन पद्धतियां थी। विशेष उल्लेखनीय बात यह थी कि इन जनपदों को आन्तरिक स्वतन्त्रता भी थी। परन्तु गुप्तकाल में सामन्त पद्धति का विशेष रूप से विकास हुआ। जिसका स्वरूप यह था कि चक्रवर्ती सम्राट की छत्रछाया में सामन्त अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक शासन किया करते थे।

डा. सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है, "जिस ढंग की सामन्त पद्धति यूरोप के मध्यकालीन इतिहास में पाई जाती है, वैसे ही अब भारत में भी विकसित होनी प्रारम्भ हो गई थी। इसका कारण सम्भवतः यह था कि यवन, शक, पल्हव आदि विदेशी जातियों के आक्रमणों के समय में भारत में शान्ति और व्यवस्था का अन्त हो गया था, और जनसमाज में एक प्रकार का मात्स्यन्याय प्रादुर्भाव हो गया था। शक महाराजों और कुषाण सम्राटों ने अपने विजितों का शासन करने के लिये अनेक क्षत्रियों की नियुक्ति की थी, जो स्वतन्त्र शासकों की स्थिति रखते थे। पर इनके लिये अपने-अपने प्रदेशों की प्रजा से शक्ति प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि विविध क्षेत्रों में ऐसे विभिन्न शक्तिशाली और प्रतापी व्यक्ति प्रकट हो जायें जो विदेशी व विजातीय दस्युओं से जनता की रक्षा करने के कार्य को हाथ में ले लें। गुप्त सम्राटों के लिये यह सम्भव नहीं हुआ कि इनका मूलोच्छेदन करके अपना एकाधिपत्य भारत में स्थापित कर सके। उन्होंने इन विविध क्षत्रियों व राजाओं की सत्ता को कायम रखा और इनसे अधीनता स्वीकार करके ही सन्तोष अनुभव किया। इसी परिस्थिति में उस पद्धति का विकास हुआ जिसे 'सामन्त पद्धति' कहा जाता है। गुप्तवंश के समय में जो पद्धति प्रारंभ हुई, वह भारत के सम्पूर्ण मध्यकालीन इतिहास में कायम रही।"[47]

गुप्तकाल की सामन्त पद्धति का विवरण देते हुए डा० ईश्वरी प्रसाद ने भी लिखा है, "गुप्तों ने सामन्तवादी पद्धति का विकास तथा अनुसरण किया। सामंतवादी सिद्धान्तों को अपनाये जाने का कारण यह था कि गुप्त साम्राज्य अति विशाल था तथा सत्ता के विकेन्द्रीकरण के बिना शासन संचालन बड़ा ही दुष्कर कार्य था। इन सामन्तों की आभ्यन्तर नीति पर सम्राट का अंकुश नहीं रहता था। समय-समय पर ये सम्राट के समक्ष उपस्थित होकर उसके वैभव तथा प्रभुता की सूचना देते थे।"[48]

---

47. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० 259-60।
48. डा० ईश्वरीप्रसाद, पूर्वाक्त, पृ० 175।

गुप्तों के अभिलेखों में बहुत से सामन्तों का उल्लेख है। ये सामन्त राजा नृप महाराज व उपरिक महाराज कहलाते थे। इनमें जो बड़े होते थे वे 'महासामंत' कहलाते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक सामन्त का नाम 'महाराज सनकानीक' मिलता है।[49] नृपबन्धु बम्मां भालवा का सामन्त था।[50] 'शर्व्वर्णनाग' स्कन्दगुप्त के काल में उसका विषयपति था।[51] बुद्धगुप्त के काल में एरिकेण प्रदेश का सामन्त महाराज मातृविष्णु[52] था। 'गोपराज'[53] भानुगुप्त के काल का सामन्त था जो कि एरिकेण में हूणों के साथ युद्ध में मारा गया था।

कालिदास ने सामन्तों से घिरे सम्राट का चित्र इस प्रकार खींचा है, "सम्राट स्वर्ण सिंहासन पर स्वर्ण वितान के नीचे बैठता था। ऊपर छत्र तना रहता था, बगल में रखे सेवक चंवर झालते रहते थे। उसके शासन के अंक या मुद्रा से अंकित शासन पत्र सामन्त-राजाओं को जब दिये जाते थे तब वे उन्हें सिर लगाते थे और उनके मस्तक की मणियों से शासन पत्र रंग बिरंगी ज्योति फेंकने लगता था। जब सामन्त जाने लगते थे। तब बारी-बारी से सम्राट के चरणों में प्रणाम करते समय एक सिलसिला बांध देते थे और उनके मस्तक की मणियों और पुष्पमालाओं से मकरन्द गिरने से सम्राट के चरणों के नख चमक उठते थे, रंग जाते थे।"[54]

सम्राट के अधीनस्थ न केवल राजा और महाराजा ही अपितु विविध गणराज्य और नैगम सभायें आदि भी इस युग में अपने सिक्के जारी करते थे। उनकी स्थिति ठीक वैसी थी जो कि सामन्त-पद्धति वाले राज्यों में विविध सामन्तों और अन्य अधीनस्त राजसत्ताओं की होती है। मध्य कालीन यूरोप में भी पवित्र रोम सम्राटों की अधीनता में राजाओं व महाराजाओं के अतिरिक्त अनेक नगर-राज्यों और व्यापारिक नगरों का भी स्वतन्त्र सत्ता थी। यही बात भारत में भी सामन्त पद्धति के विकास के कारण गुप्त सम्राटों के विषय में भी कही जा सकती है।[55]

यद्यपि ये सामन्त सम्राट के लिए बहुउपयोगी सिद्ध हुये तथापि सामन्त राज्यों की उपस्थिति आगे चलकर केन्द्रीय शक्ति को विकेन्द्रित करने में सहायक बनकर गुप्त साम्राज्य के लिये घातक सिद्ध हुई। स्कन्द गुप्त के बाद उसके उत्तराधि-

---

49. करोप्स इन्सक्रीपशन्यूम इन्डीकोरम वाल्यूम-3, पृ० 121।
50. पूर्वोक्त, पृ० 81।
51. पूर्वोक्त, पृ० 68।
52. पूर्वोक्त, पृ० 89।
53. पूर्वोक्त, पृ० 92।
54. कालिदास, रघुवंश, 4, 88।
55. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, पूर्वोक्त, पृ० 261।

कारियों के काल में इन्हीं सामन्तों ने केन्द्र से पृथक और स्वतन्त्र होने की प्रक्रिया प्रारम्भ की। इसके फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य की स्थिरता डगमगा गई तथा हूणों के पुन: भारत में आगमन का कारण बनी। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने भी यह तथ्य स्वीकारते हुये लिखा है, "यह निर्विवाद है गुप्त साम्राज्य के निश्रृंखलित और विनिष्ट होने का प्रमुख कारण हूणों के आक्रमण से अधिक गुप्त सामन्तों द्वारा जनित द्रोह था, जिनमें सबसे प्रचण्ड, प्रबल और विध्वंसक मालवा का यशाधर्मन विष्णुवर्मन सिद्ध हुआ।[56]

सम्प्रभुता की अवधारणा :

गुप्तकाल की सम्पूर्ण व्यवस्था का अवलोकन करने पर यह दृष्टिगत होता है कि गुप्तकालीन सम्राटों की शौर्य शक्ति असीमित थी, और अपनी इस व्यापक प्रभुता तथा सार्वभौमिकता के अनुरूप न केवल उन्होंने महाराजाधिराज परमदैवत परमभट्टारक, महाराजाधिराज, पृथ्वीपति एकाधिराज व राजाधिराज आदि विभिन्न उपाधियों का वरण किया वरन् समुद्रगुप्त को तो प्रयाग प्रशस्ति में कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम के समान ही लोक में रहने वाला देवता भी कहा गया है। इस अवस्था में यह समझा जा सकता है कि गुप्त सम्राट सम्प्रभु थे अथवा गुप्त सम्राटों में सम्प्रभुता का वास था, परन्तु वास्तव में ऐसा न था। मौर्यकाल की भांति गुप्तकालीन सम्राट भी कौटिल्य के आवंश राजा के अनुरूप राजर्षि थे। जिस प्रकार कौटिल्य ने राजा का आदेश निर्देशित किया है अर्थात् प्रजा का उत्थान, कार्यन्शासन और प्रजा का हित-सुख ही राजा का व्रत यज्ञ और हित सुख है। गुप्त अभिलेखों से भी यही विदित होता है कि गुप्त सम्राट भी इसी का अनुक्रमण एवं अनुशीलन करते थे। इसलिये यह कहना तर्कसंगत है कि गुप्तकाल में सम्प्रभुता का वास जनता (प्रजा) में था।

गुप्तकालीन राजाओं के कर्तव्यों के सम्बन्ध में कालीदास ने कौटिल्य के अनुरूप दर्शाया है :

> 'स्वसुखनिरभिलाष: खिद्यते लोकहेतो:
> प्रतिसिमथवा ते वृतिदर्वविधैव।
> अनुभवति हि मूर्घ्वा पादपस्तीव्रमुष्णं
> शमया परितापं छायया संश्रितानाम्॥
> नियमयसि विमार्गप्रस्थिातानात्तदण्ड:
> प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।

---

56. डा. रमेशचन्द्र मजूमदार, एनशियन्ट इण्डिया, पृ. 257।

अतनुषु विभवेष ज्ञातय: सन्तु नाम
त्वापि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम ।।[57]

अर्थात् राजा अपने निजी सुख की अभिलाषा छोड़कर दिनरात लोकहित में कार्यरत रहता है वह ऊंचे वृक्ष की तरह सूर्य का आप्त स्वयं ग्रहण करता हैं और अपने आश्रय में रहने वाले को शीतलता प्रदान करता है। वह दण्ड से विमार्ग अथवा कुमार्ग पर चलने वाले को रोकता है, विवादों का शमन करता है, और प्रजा के रक्षण में समर्थ होता है। बन्धुजन तो वैभव में ही साथ दिया करते हैं, लेकिन राजा अपनी प्रजा के प्रति सदा ही प्रिय मित्र और बन्धु का कर्तव्य निर्वाह करता है।

कालिदास ने अपने दूसरे ग्रन्थ रघुवंश में राजा को प्रजा का वास्तविक पिता बताते हुये लिखा है :

'प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरक्षणदपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ।।'[58]

कालिदास ने जो चित्रण किया है वह गुप्तयुगीन साहित्य एवं अभिलेखों से से अभिप्रेरित लगता है। स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख जिसमें उसे 'प्रियो जनस्य' कहा गया है यह प्रकट करता है कि वह जनता का प्रिय था। मन्दसौर के अभिलेख में राजा बन्धुवर्मा को 'प्रजा का बन्धु' कहा गया है।

प्रयाग प्रशस्ति में जहां समुद्रगुप्त को लोक में रहने वाला देवता कहा गया है वहां उसे शास्त्र का ज्ञाता, धर्म की मर्यादा स्थित रखने वाला, शास्त्र विहित मार्ग पर चलने वाला तथा लोक-नियमों का अनुष्ठान व पालन करने वाला भी बताया है।

इस सम्बन्ध में प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी ने लिखा है, "समुद्रगुप्त के राजकीय व्यक्तित्व के इस विवरण से स्पष्ट है कि शास्त्र, धर्म व लोक नियमों के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने वाला समुद्रगुप्त लुई चौदहवें की भांति अपने को 'देव' मानकर शासन नियमों अथवा दण्ड संहिता का नियामक नहीं समझता था और राज्य संचालन के कार्यों में वह शास्त्र सम्मत मार्ग का अनुशीलन करता था। अतः प्रयाग-प्रशस्ति में उसे लोक में रहने वाला देवता राजत्व के दैवप्रदत्त सिद्धान्त के आधार पर नहीं, उसके शत-सुचरित से अलंकृत अनेक गुणों के कारण कहा गया है।"[9]

---

57. कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तम् अंक 5, 7, 8।
58. कालिदास, रघुवंश, 1/24।
59. प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी, भारत का स्वर्ण युग, पृ. 295।

गुप्तकालीन व्यवस्था का वर्णन करते हुए फाह्यान ने जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट होता है कि प्रजा सुखी थी और उस पर राजा की ओर से कोई कठोर अंकुश न था। फाह्यान ने लिखा है, "प्रजा प्रभूत तथा सुखी थी। व्यवहार की लिखा पढ़ी और पंच पंचायत कुछ भी नहीं है। लोग राजा की भूमि जानते हैं और उपज का अंश देते हैं। जहां चाहे आये, जहां चाहे रहे। राजा न तो प्राण दण्ड देता है और न शारीरिक दण्ड। अपराधी को उसके अपराध की गुरुता व लघुता के अनुरूप ही अर्थदण्ड दिया जाता है।"[60]

न केवल सम्राट अपितु प्रदेशों का गोप्तः (सामन्त) तथा शासन के उच्चाधिकारियों के चयन के समय भी इस बात को दृष्टिगत रखा जाता था कि उक्त गोप्ता एवं विषय का विषयपति ऐसा व्यक्ति नियुक्त किया जाय जो सर्वलोक हित में प्रवृत्ति रखता हो, न्याय से अर्थ अर्जित करने वाला हो, अर्जित की रक्षा करने वाला हो तथा रक्षित की वृद्धि करने वाला हो :

> 'सव्वेस्य लोकस्य हिते प्रवृत:।
> न्यायजैने अर्थस्य च क: समर्थ:
> स्यादार्दजिततस्याप्यथ रक्षणे च।
> गोपायितस्यापि च वृद्धि हेतो
> वृद्धस्य पात्र-प्रतिपादनाय।'[61]

इसी प्रकार स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में आया है :

> 'तस्मिन्नृपे शक्ति नैवं कश्चिदं धम्मांदपेतो मनुजः प्रजासु।
> आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्डयो न वा यो भृशपीपीडितः स्यात।'[62]

अर्थात् जब तक उस राजा (स्कन्दगुप्त) का शासन है, उसकी प्रजा में से कोई धर्म से च्युत नहीं होता, उस राज्य में न तो कोई आर्न्त (दीन) है, न दरिद्र है, न व्यसनी है, न लोभी है, न दण्डनीय अपराधी है और न कोई ऐसे ही है जो विशेष पीड़ित है।

सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है, "राजा अपनी राजसभा के सभासदों के साथ राजकार्य की चिन्ता करता था और उसके परामर्श के अनुसार कार्य करता था। देश का कानून उस काल में परंपरागत धर्म, चरित्र और व्यवहार पर आश्रित था।

---

60. एच. ए. गिलस, दि ट्रेवल्स आफ फाहियान, पृ. 21।
61. जूनागढ़ अभिलेख।
62. जूनागढ़ अभिलेख।

जनता के कल्याण और लोकरंजन को ही राजा लोग अपना उद्देश्य मानते थे।[63]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुप्त सम्राट प्रजा के हितों की रक्षा करना, उनकी सुख समृद्धि का ध्यान रखना अपना परम कर्तव्य समझते थे। वह यह भी समझते थे कि प्रजा के सुखी होने पर ही राजा सुखी होता है, उसकी कीर्ति बढ़ती है। उपरोक्त सम्पूर्ण विवरण यह स्पष्ट करता है कि तत्कालीन समय में सम्प्रभुता का वास जनता में था।

---

63. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ. 262-63।

अध्याय 7

उपसंहार

प्राचीन भारत के विद्वानों ने राजनीतिक चिन्तन की दिशा में भी पर्याप्त ध्यान दिया है। राजधर्म, राजशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र इत्यादि नामों से राजनीति शास्त्र को सम्बोधित किया गया प्राचीन भारत में सामान्य रूप से राजतन्त्र ही प्रचलित था। अतः राजनीति शास्त्र को राजधर्म और राज्य शास्त्र के नाम से पुकारा जाना स्वाभाविक ही था।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विद्या को जो चार भागों में विभक्त किया है, उसमें दण्डनीति भी है। जो प्राप्त न हो उसे प्राप्त करना, प्राप्त की रक्षा करना, रक्षित की वृद्धि करना और बड़ी हुई सुख समृद्धि को यथा योग्य स्थानों और पात्रों में वितरित करना दण्डनीति का ही कार्य था। शुक्र ने लिखा है कि ब्रह्मा द्वारा रचित राज्य शास्त्र को वशिष्ठ और उनके जैसे अन्य चिन्तकों ने पृथ्वी के शासकों तथा अन्य व्यक्तियों की समृद्धि के लिये संक्षिप्त किया था। उन्होंने यह भी कहा है कि राजा को यत्नपूर्वक नीतिशास्त्र का अभ्यास करना चाहिये।

महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लेख हुआ है कि दण्ड द्वारा अदान्त लोगों का दमन किया जाता है। अतः दमन करने और दण्डित करने के कारण दण्ड शब्द का प्रयोग विद्वानों द्वारा किया गया। मनु के अनुसार दण्ड ही धर्म और राजा है। इसी के द्वारा प्रजा की रक्षा की जाती है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में यह मान्यता थी कि जब सब सोये रहते हैं तो उस समय दण्ड ही जागता है; बड़ी महत्वपूर्ण है। दण्ड ही चारों वर्णों को धर्ममार्ग पर प्रवृत करता है। प्रभावी बनाने के लिये उसका प्रयोग पूर्ण औचित्य के साथ किया जाना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होगा तो त्रिवर्ग के सिद्धान्तों का ही उन्मूलन हो जायेगा।

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने राजशास्त्र के अन्तर्गत सम्प्रभुता और उससे सम्बन्धित अनेक बातों पर विशद रूप से विचार किया है। आधुनिक शासन प्रणाली में तो सम्प्रभुता के विषय में वह एक सर्वमान्य मत विकसित हो गया है कि सम्प्रभुता का निवास जनता में होता है। साम्यवादी तथा प्रजा तान्त्रिक दोनों प्रकार की शासन प्रणालियां सम्प्रभुता को जनता में ही स्वीकार करती हैं। किन्तु शासन के व्यावहारिक रूप से संचालन के लिए जनता वयस्क मताधिकार

के आधार पर अपने प्रतिनिधियों को निश्चित अवधि के लिए चुनती है और अपने सारे अधिकार उन्हें सौंप देती है। इस प्रसंग में यह विशेष ध्यान देने की बात है कि जनता जिन अधिकारों से प्रतिनिनिधयों को सुसज्जित करती थी, वह उन्हें वापस भी ले सकती थी।

सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणा ऋग्वैदिक काल में विकसित हो चुकी थी। ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण में सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्तों का विकास हो चुका था। सम्प्रभुता सम्बन्धी प्राचीन भारतीय और आधुनिक अवधारणा में प्रमुख अन्तर यही दिखलाई पड़ता है कि प्राचीन भारत में राजा के विधायिका सम्बन्धी अधिकार अत्यन्त ही सीमित थे। इसके विपरीत आधुनिक काल में प्रजा समस्त कार्यों के संचालन के लिये अधिक से अधिक विधायिका पर ही निर्भर करती है।

वर्तमान राज्यशास्त्रीय राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये सरकार को उसका एक आवश्यक तत्व मानते हैं। सरकार द्वारा ही राज्य की प्रभुत्व शक्ति को क्रियान्वित किया जाता है। आधुनिक विचारक जिसे प्रभुत्व शक्ति कहते हैं, प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने उसे ही दण्ड कहा है। दण्ड का प्रयोग राजा के अधीन था जिसका प्रयोग वह अपने अमात्यवर्ग की सहायता से करता था। जिस प्रकार समस्त प्रजा के दण्ड के अधीन होती थी उसी प्रकार राजा और उसके समस्त कर्मचारी भी। सर्वोपरि दण्ड ही स्वीकार किया गया, राजा नहीं। भारत के प्राचीन मनीषियों ने खुलकर यह विचार व्यक्त किया कि दण्ड के अभाव में समाज में मत्स्य न्याय उत्पन्न हो जायेगा।

आधुनिक दृष्टि से प्रदेश, जनता और सरकार राज्य के आवश्यक अंग है। यदि इनकी तुलना सप्तांग सिद्धांत से की जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी और अमात्य सरकार के अत्यधिक महत्वपूर्ण अंग थे। अर्थशास्त्र में स्वामीत्व शब्द का प्रयोग हुआ है, लेकिन स्वामित्व का सम्बन्ध राजा के व्यक्तिगत अधिकारों से था न कि शासन सत्ता से। वैदिक काल में हम देखते हैं कि राजा के अधिकार तो हैं किन्तु वह सभा और समिति के नियन्त्रण में रहता था। यह संस्थायें प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थी। अतः सम्प्रभुता के अधिष्ठान वैदिक काल में सभा और समिति ही थे। डा. एच. एन. सिन्हा ने अपने महत्वपूर्ण शोध ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय राज्य में सम्प्रभुता की धारणा का ऐतिहासिक दृष्टि से विशद विवेचन किया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि प्राचीन भारतीय विचारक प्रभुता की धारणा से अनभिज्ञ न थे, परन्तु इसका स्वरूप और सार आधुनिक स्वरूप और सार से काफ़ी भिन्न था। भारतीय आर्यसमाज में राजपद सामान्य रूप से निर्वाचित था किन्तु कालान्तर में यह पद आनुवांशिक हो गया। वैदिक काल में सभा और समिति नामक दो लोकप्रिय संस्थाये थीं जो राज्य के

महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय लेती थी, किन्तु जब विशाल राज्यों का उदय और उत्कर्ष हुआ, उनके भौतिक साधन बढ़े तथा सैनिक शक्ति में अपार वृद्धि हुई तो सभा और समिति का स्थान घट गया। इनका स्थान राजसभा तथा मन्त्रिपरिषद ने ले लिया। इस प्रकार राजाओं की शक्ति बढ़ गई। चौथी सदी ई. पू. में मौर्य वंश की स्थापना के फलस्वरूप भारत में प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य की स्थापना हुई, जो सर्वोपरिता के लिये संघर्ष का फल था।

डा. एच. एन. सिन्हा के उपर्युक्त मत में काफी सार है। परन्तु यह स्वीकार करना कि प्राचीन भारत में सम्प्रभुता राजा समाविष्ठ थी तर्कसंगत नहीं है। इतिहास साक्षी है कि नन्दों का अलोकप्रिय शासन जनता के असहयोग के कारण ही समाप्त हुआ। मौर्य लोग आसानी से इस बात को भुला नहीं सकते थे। इस लिये मौर्य वंश के महाशासकों के काल में यह देखते हैं कि प्रजाहित को उन्होंने कभी भी गौण स्थान नहीं दिया। मौर्य शासक इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे कि अलोकप्रिय शासन किसी समय भी प्रजा के कोप से समाप्त हो सकता है। सम्राट अशोक ने तो इसीलिये अपने अभिलेखों में यह अंकित करवा दिया था कि प्रजा के दु:ख सुख की सूचना उसे तत्काल दी जाय चाहे वह किसी भी स्थिति में क्यों न हो।

गुप्त सम्राटों के काल का यदि अध्ययन किया जाय तो इसे निष्कर्ष पर हम भली भांति पहुंच सकते हैं कि वे शक्तिशाली और कुशल विजेता थे। उन्होंने इस बात को पूर्ण प्रकार से समझ लिया था कि धार्मिक असहिष्णुता का सर्वसाधारण के कल्याण से कोई मेल नहीं है। इसी कारण से उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता का अनुसरण किया। वे सार्वजनिक हित तथा प्रशासन के मामले में अपने धार्मिक सम्बन्धों से विचलित नहीं हुये। गुप्तकाल में राजा ने विभिन्न धर्मों के एक दूसरे के प्रति रुख को विनियमित किया और यह भी प्रयास किया कि उनमें आपसी शत्रुता न हो। शासन की यह मनोभावना इंगित करती है कि जनकल्याण का अतिक्रमण करना राजा के लिये घातक हो सकता है। कुछ विद्वानों ने ऐसा विचार प्रकट किया है कि धर्म का पालन इसलिये होता था कि उसके पीछे राज्य की दण्ड शक्ति थी। किन्तु अधिकांश हिन्दू विचारक इससे सहमत नहीं हुये। वे धर्म को राजा और राज्य से बड़ा मानते हैं। डा. वी. पी. वर्मा के मतानुसार प्राचीन भारत में धर्म और नैतिक कानून की प्रभुता का विचार पाया जाता है। हिन्दू राजनीतिक विचारकों ने स्वीकार किया है कि प्राचीन भारत में धर्म की प्रभुता थी। कुछ विद्वानों ने तो धर्म का अर्थ विधि या कानून से लिया है। उनका कहना है कि विधि की प्रभुता के विचार को प्राचीन हिन्दू स्वीकार करते थे। डा. राधाकृष्णन का मत हैं कि उन सभी संस्थाओं के योग का प्रतिनिधित्व धर्म करता

था जिनके द्वारा सार्वजनिक कल्याण को प्राप्त किया जाता था। विद्वान एम. सी. बन्धोपाध्याय का मत है कि प्राचीन भारत में राजा धर्म से ऊपर कभी नहीं रहा। डा. के. पी. जायसवाल ने भी मनु का निर्वचन करते हुये कहा है कि धर्म ही वास्तविक प्रभु है न कि राजा। धर्म की प्रभुता के विचार का प्रबल समर्थन डा. राधाकुमुद मुखर्जी ने भी किया है। उन्होंने लिखा है, 'हिन्दू विचारों के अनुसार तो विधि के रूप में धर्म राज्य का सच्चा प्रभु है। राजा कार्यपालिका हैं, जिसे दण्ड कहते हैं और जो अध्यात्मिक प्रभु के रूप में धर्म के आदेशों को स्थिर रखता है तथा उन्हें लागू करता है।[1] धर्म की प्रभुता की अवधारणा भी यही सिद्ध करती है कि वास्तविक प्रभुता प्राचीन काल में प्रजा में ही निहित थी।

छठी सदी ई. पू. से चौथी ई. तक का काल गणतन्त्रों का काल माना गया है। इस लम्बे समय में अनेक गणतन्त्रों का उदय और विकास हुआ। तथा अनेक गणतन्त्रों का लोप भी हो गया। पिछले पृष्ठों में गणतन्त्रों की शासन व्यवस्था पर विचार किया गया है। गणतन्द्रों में प्रभुसत्ता केन्द्रिय समिति में निहित थी। परोक्ष रूप से यह केन्द्रिय समिति प्रजा का ही प्रतिनिधित्व करती थी। अतः गणतन्त्रों के काल में यह बात स्पष्ट है कि सम्प्रभुता का अधिष्ठान राजा नहीं था।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्राचीन भारत में सम्प्रभुता के सम्बन्ध में व्यापक रूप से विचार किया गया है। वैदिक काल से गुप्त काल तक का अध्ययन विशद रूप से किया गया है। सम्पूर्ण स्थिति पर विचार करने के पश्चात् निष्कर्ष यही निकलता है कि इस काल में सम्प्रभुता का निवास प्रजा में ही रहा है। प्राचीन भारत में जब साम्राज्यवाद की प्रवृति बढ़ी और मगध का उत्कर्ष हुआ तो प्रायः यह समझा जाने लगा कि राजा वास्तविक सम्प्रभु बन गया, किन्तु अनेक उदाहरणों से इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि साम्राज्यवाद के काल में भी सम्प्रभुता प्रजा में ही निहित थी। हर्यक वंश का अन्तिम शासक नागदासक पदच्युत किया गया और उसके स्थान पर उसके अमात्य को राज्यसत्ता सौंप दी गई। ठीक इसी प्रकार से नन्द वंश का नाश हुआ। कौन कह सकता है कि नन्दों को समूल नष्ट कर देने के पीछे प्रजा का आक्रोश नहीं था। मौर्य शासकों ने भी जब तक प्रजा की भावना को समझा उनका शासन सुचारू रूप से चलता रहा किन्तु अन्तिम मौर्य शासक बृहद्रथ जिस प्रकार उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग द्वारा की गई उससे स्पष्ट बोध होता है कि अन्यायी और दुराचारी प्रजा के आक्रोश के समक्ष स्थिर नहीं रह सकता। अपने इस शोध प्रबन्ध में हमने यही सिद्ध करने का स्वल्प प्रयास किया है कि प्राचीन भारत में सम्प्रभुता का वास प्रजा में ही रहा।

---

1. राधाकुमुद मुकर्जी, चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम, पृ० 49।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

प्राथमिक-ग्रन्थ :

1. ऋग्वेद संहिता — सायणाचार्य भाष्य सहित, सातवलेकर औध कार्यालय, सतारा 1940, सम्पादित द्वारा विश्वबन्धु, होशियारपुर, 1966, हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेव विद्यालंकार, अजमेर ।

2. यजुर्वेद संहिता — सातवलेकर औध कार्यालय, सतारा, 1943 हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेव विद्यालंकार अजमेर ।

3. सामवेद संहिता — सातवलेकर औध कार्यालय, सतारा, हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेव विद्यालंकार, अजमेर ।

4. अथर्ववेद संहिता — सायणाचार्य भाष्य, सातवलेकर औध कार्यालय, सतारा, स्वामी दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-1974, हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेव विद्यालंकार, सतारा ।

5. ऐतरेय ब्राह्मण — सायणाचार्य आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1936, अनुवादित द्वारा ए० बी० कीथ, ह० ओ० सी०, हारवर्ड, 1915 ।

6. तैत्तिरीय ब्राह्मण — सायणाचार्य भाष्य, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना ।

7. शतपथ ब्राह्मण — शांकरभाष्य सहित, अनुवादित – स्वामी माधवानन्द, अल्मोड़ा, 1950 ।

8. छान्दोग्य उपनिषद — गीता प्रेस, गोरखपुर ।

9. गौतम धर्म सूत्र — आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, अंग्रेजी अनुवाद सैकेण्ड बुक आफ ईस्ट, 2 जी, ब्यूहलर, दिल्ली, 1965 ।

10. आपस्तम्भ धर्मसूत्र — चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1965 अंग्रेजी अनुवाद, सैकेण्ड बुक आफ ईस्ट, 2 जी व्यूहलर।

11. बोधायन धर्मसूत्र — अंग्रेजी अनुवाद, सैकेण्ड बुक आफ ईस्ट, 14 जी, व्यूहलर, 1965।

12. श्रीमद्बाल्मीकि रामायण — (1) गोविन्दराज भाष्य सहित, टी० आ० कृष्णाचार्य तथा गोविन्दराज टीका सहित श्री निवास शास्त्री।
(2) चन्द्रशेखर शास्त्री, सस्ता साहित्य पुस्तकमाला कार्यालय, दिल्ली।

13. श्री महाभारत — नीलकण्ठ भाष्य सहित–चित्रशाला मुद्रणालय, पूना, अनुवादित द्वारा रामनारायण दत्त शास्त्री, गीता प्रेस गोरखपुर, सम्वत् 2020-21।

14. मनुस्मृति — अंग्रेजी अनुवाद सैकेण्ड बुक आफ ईस्ट, 25 जी व्यूहलर दिल्ली, 1964, हिन्दी टीका सहित तुलसीदास।
शोभानाथ झा, इलाहाबाद, 1932।

15. बृहस्पति स्मृति — गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बड़ोदरा।

16. नारद स्मृति — सम्पादित द्वारा जौली, कलकत्ता, 1885।

17. याज्ञवलक्य स्मृति — नारायण शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज बनारस।

18. श्रीमद्भगवत पुराण — गीता प्रेस गोरखपुर।

19. अग्निपुराण — सरस्वती प्रेस कलकत्ता।

20. वायु पुराण — अनुवादित द्वारा राजेन्द्र मित्रा, कलकत्ता, 1879-80।

21. विष्णु पुराण — सम्पादित द्वारा गुप्ता, गोरखपुर, 1952।

22. कौटिल्य अर्थशास्त्र — हिन्दी अनुवाद द्वारा वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1962 अंग्रेजी अनुवाद द्वारा आर० शामाशास्त्री, मैसूर, 1961।

हिन्दी अनुवाद द्वारा उदयवीर शास्त्री, दिल्ली, 1969।

23. कामन्दकीय नीतिशास्त्र — गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, अंग्रेजी अनुवाद द्वारा विजयकुमार सरकार, जीवनन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित, इलाहाबाद।

24. शुक्रनीति — भाष्य टीका सहित गंगा प्रसाद शास्त्री, मुज्जफरनगर, वी० पाणिनी आफिस, भुवनेश्वरी आश्रम, बहादुरगंज, प्रयाग, 1914।

25. श्रीमद्भागवत गीता — गीता प्रेस, गोरखपुर।

26. कल्हण की राजतरंगिणी — कल्हण कृत, सम्पादित द्वारा एम० ए० स्टीज बम्बई, 1892, हिन्दी अनुवाद, भाष्य सहित रघुनाथसिंह, हिन्दी प्रशासक संस्थान, वाराणसी।

27. वीर-मित्रोदय — मित्र मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

28. विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस — सम्पादित द्वारा सुरेशचन्द्र गुप्त, दिल्ली, 1973। हिन्दी अनुवाद, निरूपण विद्यालंकार, मेरठ।

29. कालिदास कृत मालविकाग्निमित्रम — एस० कृष्णाराव, मद्रास, 1930।

30. रघुवंश — सम्पादित द्वारा शंकर पण्डित, गवर्नमेंट सेन्ट्रल बुक डिपो, 1897।

31. पंचतन्त्र — काशी संस्करण।

32. वाण का हर्षचरित — अंग्रेजी अनुवाद थामस एवं काबेल, रायल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन।

33. यास्क का निरुक्त — आनन्दाश्रम दुर्ग की टीका सहित।

34. कथासरितसागर — सोमदेव।

35. चण्डेश्वर का राजनीति रत्नाकर — के० पी० वायसवाल, बिहार एण्ड उड़िसा रिसर्च सोसायटी।

36. वात्सायन का कामसूत्र निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

37. आर्यमन्जुश्रीकल्प — सम्पादित द्वारा गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम 1925।

38. अभिज्ञान शाकुन्तलम — सम्पादित द्वारा गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1908।

39. जातक ग्रन्थ — कावेल, ई० वी० द्वारा अनुवादित कैम्ब्रिज यूनिर्वसिटी प्रेस, 1886।
लन्दन से पुनः प्रकाशित, 1957।

40. दी धनेकाय — (हिन्दी) अनुवादित द्वारा राहुल सांकृत्यायन और जगदीश कश्यप, वाराणसी, 1936।

41. मज्जिमनिकाय — वी० टेकत्तर एण्ड आरचामर्स, पालि—सोसायटी, लन्दन।

42. महावस्तु — सम्पादित सेनर्ट ई०, पेरिस, 1882-97।

43. ललितविस्तार — सम्पादित द्वारा राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता।

44. दिव्यावदान — सम्पादित कावेल, ई० वी० और नील एफ० ए० कैम्ब्रिज, 1886।

45. महावंश — भदेत्त आनन्द, कोसल्यायन, 1942।

46. मिलिन्द पन्हो — अंग्रेजी अनुवाद, टी० डब्ल्यू रिज डेविसन, लन्दन।

47. विनय पिटक — सम्पादित द्वारा एच० ओल्डवर्ग, लन्दन।

48. आचरांग सूत्र — जैकोबी द्वारा अनुवादित, एस० मैक्सूमलर, आक्सफोड।

49. कल्पसूत्र — उपरोक्त।

50. जैन मुत्ताज — सैकेण्ड बुक आफ ईस्ट, हरमन, जैकोबी, दिल्ली, 1964।

शिलालेख :

1. अशोक के शिलालेख — राजबली पाण्डेय, वाराणसी, सम्वत् 2032।
2. अशोक एण्ड हिस इन्सक्रिपशन्स — बरुआ, बी० एम० 1946।

3. इन्सक्रिपशन्स आफ अशोक — डी० आ० भण्डारकर एण्ड एस० एस० मजूमदार कलकत्ता।

4. सिलेक्ट इन्सक्रिपशन्स बियरिंग आन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन — ड० सी० सरकार, 1942।

5. इण्डियन एमिग्राफिकल ग्लासरी — दिल्ली, 1966।

6. कोप्स इंस्क्रिपशन्स इंडिकेरम, मिराशी — जिल्द 3, भाग 1 एवं 2, वासुदेव अटकमंड 1955।

7. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन — वासुदेव उपाध्याय, दिल्ली, 1961।

आधुनिक सहायक ग्रन्थ :

1. अल्तेकर, ए. एस. — प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था, वाराणसी, 1959।

2. अल्तेकर, ए. एस. — हिस्ट्री आफ विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टन इण्डिया, बम्बई, 1926।

3. अरस्तु — पालिटिकल साइंस अनुवादित भोलानाथ शर्मा लखनऊ, 1960।

4. आस्टिन — लेक्चर आफ ज्यूरिसप्रूडन, लन्दन, 1881-83।

5. एयंगर एस. कृष्णास्वामी — स्टसडीज इन गुप्ता हिस्ट्री, मद्रास, 1928।

6. ऐयंगर एस. कृष्णास्वामी — आस्पेक्ट आफ एंशियन्ट इण्डिया पालिटी, वाराणसी, 1934।

7. ओमप्रकाश — प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, 1971।

8. उपाध्याय, वासुदेव — गुप्त साम्राज्य का इतिहास, इलाहाबाद, 1957।

9. उपाध्याय, भगवतशरण — गुप्त काल का सांस्कृतिक इतिहास, आगरा, 1969।

10. ओझा, कृष्णदत्त — भारतीय पुरातत्व, दिल्ली।

11. अन्जारिया, जे० एन० — दी नेचर एण्ड ग्राउण्डस आफ पालिटिकल ओबलिगेशन इन दी हिन्दी स्टेट, लन्दन, 1935।

12. अग्रवाल वासुदेवशरण — पाणिनीकालीन भारतवर्ष, बनारस।

13. काने, पी० बी० — हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पूना, 1930-46।

14. कीथ, ए० बी० — रिलीजन एण्ड फिलासफी आफल दी वेदाज, 1925।

15. कौशाम्बी, डी० डी० — इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई।

16. कौशाम्बी, डी. डी. — प्राचीन भारत की संस्कृतिऔर सभ्यता, दिल्ली, 1959।

17. कृष्णाराव, एम. वी. — स्टडीज इन कौटिल्य, दिल्ली, 1958।

18. गोखले, बी. जी. — बुद्धिज्म एण्ड अशोक, बम्बई, 1949।

19. गोखले, बी. जी. — प्राचीन भारत बम्बई, 1957।

20. गार्नर, जे. डब्ल्यू. — पालिटिकल साइंस आफ गवर्नमेंट, बर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, 1952।

21. गोयल, एस. आर. — ए. हिस्ट्री आफ दी इम्पीरियल गुप्ताज, इलाहाबाद, 1967।

22. गिलक्राइस्ट, ए. एन. — प्रिंसिपल आफ पालिटीकल साइंस, लन्दन, 1921।

23. गैटिल — पालिटीकल साइंस, बर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, 1967।

24. ग्रीन टामस हिल — राजनीतिक दायित्व के विचार, अनुवादित द्वारा ब्रजमोहन शर्मा, वाराणसी, 1966।

25. घोष, बटकृष्ण — कलेक्शन आफ फरमैन्टस आफ लौंस ब्राह्मण, कलकत्ता, 1935।

26. घोषाल, यू. एन. — ए. हिस्ट्री आफ इण्डियन पालिटिकल आइ-डियाज, बम्बई, 1959।

27. घोषाल, यू. एन. दी रग्रेरियन स्टिम इन एंशियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1930।

28. घोषाल, यू. एन. कन्ट्रीव्यूशन्स टू दी हिस्ट्री आफ हिन्दू रेवन्यू सिस्टम, कलकत्ता, 1929।

29. घोषाल, यू. एन. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, अशियन्टल लागमेन्स, 1957।

30. घोषाल, यू. एन. हिस्ट्री आफ पब्लिक लाइफ इन एंशियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1957।

31. चक्रवती, एस. सी. दी फिलासफी आफ दा उपनिषद, 1935।

32. चौधरी, आर. के. स्टडीज इन एंशियन्ट इंडिया ला एंड जस्टिस।

33. चट्टोपाध्याय, सुधाकर अर्ली हिस्ट्री आफ नार्थ इण्डिया, कलकत्ता, 1958।

34. चक्रवर्ती, एस. सी. ए. स्टडी इन हिंदू सोशल पालिटी, कलकत्ता।

35. जायसवाल के. पी. हिन्दू पालिटी, बंगलूर, 1978।

36. जायसवाल के. पी. मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता, 1930।

37. ज्ञानी शिवदत्त वेदकालीन समाज, वाराणसी, 1967।

38. झा जी. एन. हिन्दू ला एण्ड इटस सोर्सेज, इलाहाबाद।

39. थापर रोमिला अशोक एण्ड द डिवलाइन आफ मौर्याज, दिल्ली, 1977।

40. त्रिपाठी, आर. एस. हिस्ट्री आफ एंशियन्ट इण्डिया, दिल्ली 1942।

41. त्रिवेदी, रामगोविन्द वैदिक साहित्य।

42. दत्त नृपेन्द्र कुमार औरिजन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम-II, कलकत्ता 1969।

43. दीक्षितार, बी. आर. आर. हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्सटीट्यूट यूशंस, मद्रास, 1929।

44. दीक्षितार, बी. आर. आर. द गुप्ता पालिटी, मद्रास, 1952।

45. दीक्षितार, बी. आर. आर. — मौर्यन पालिटी, मद्रास, 1932।

46. दत्ता, बी. एन. — स्टडीज इन इण्डियन सोशलपालिटी, कलकत्ता,

47. धर्मा, पी. सी. — रामायण पालिटी, 1941।

48. जास्टिन (मैक्रिन्डेल) — दी इन्वेजन आफ वाई अलैकजन्डर दी ग्रेट, वैस्टमिस्टर, 1896।

49. जूनी, दुब्रीय — एनशियन्ट हिस्ट्र आफ दी डेकन।

50. दास, ए. सी. — ऋग्वैदिक इण्डिया, कलकत्ता।

51. नाहर रतिभानु सिंह — प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1967।

52. नीलकण्ठ शास्त्री, के. ए. — द एज आफ नन्दाज एण्ड मौर्याज, हिन्दी अनुवाद-नन्द मौर्य युगीन भारत, दिल्ली, 1969।

53. प्रसाद बेनी — दी स्टेट इन एनशियन्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1968।

54. प्रतापगिरी, आर. — प्रोब्लम आफ इण्डियन पालिटी, बम्बई, 1935।

55. पार्निटर, एफ. ई. — दी पुराण टैक्सट आफ दी डायनेस्टीज आफ दी काली एज, लन्दन, 1931।

56. पाण्डेय, बी. सी. — स्टडीज इन द ओरिजन आफ, बुद्धिज्म, इलाहाबाद, 1957।

57. पाण्डेय बी. सी. — प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1968।

58. पाण्डेय, बी. सी. — प्राचीन भारत का इतिहास, मेरठ, 1962।

59. परमात्माशरण — प्राचीन भारत में राजनैतिक विचार एव संस्थायें, मेरठ, 1967।

60. पाण्डेय, श्यामलाल — वेदकालीन राजव्यवस्था।

61. प्रसाद ईश्वरी, शैलेन्द्र कुमार — प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म, दर्शन, इलाहाबाद, 1980।

62. पांथरी भगवती प्रसाद — मौर्य साम्राज्य का सांस्कृति इतिहास, वाराणसी, 1972।

63. पांथरी भगवती प्रसाद — भारत का स्वर्णयुग, वाराणसी, 1974।

64. प्लूटार्क — प्लूटार्क लाइव्स।

65. पाण्डेय राजबली — भारतीय इतिहास की भूमिका, दिल्ली 1949।

66. पायिक्कर — भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण, बम्बई, 1957।

67. व्यूलर — इण्डियन स्टडीज, भाग दो, एस. डब्ल्यू. ए. 1892।

68. ब्राइस — मार्डन डैमोक्रेसीस, मैकमिलन, न्यूयार्क, 1921।

69. बरुआ, बी. एम. — अशोक एण्ड हिस इन्सक्रिप्शन्स, कलकत्ता, 1946।

70. बनर्जी, पी. एन. — पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन संशियन्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1968।

71. बन्दोपाध्याय, एन. सी. — डवलपमैन्ट आफ हिन्दू पालिटी एण्ड पालिटिकल थ्योरीस कलकत्ता, 1927।

72. बोस. एन. के. कल्चर — कल्चर एण्ड सोसायटी इन इण्डिया, बम्बई, 1967।

73. बुद्ध प्रकाश — स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन आगरा, 1962।

74. भंडारकर, डी० आर० — अशोक, दिल्ली, 1960।

75. भंडारकर, डी. आर. — सम आस्पेक्ट आफ इण्डियन हिन्दी पालिटी बनारस, 1929।

76. मजूमदार, आर. सी. — एनशियन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1977।

77. मजूमदार, आर. सी. — कोरपोरेट लाइफ इन एनशियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1932।

78. मजूमदार, आर. सी. — दी वैदिक ऐज, बम्बई, 1965।

79. मुकर्जी, आर. के. — हिन्दू सभ्यता, इलाहाबाद, 1956।

80. मुकर्जी, आर. के. लोकल सैल्फ गवर्नमेंन्ट इनएनशियन्ट इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1920।

81. मैक्सूमलर चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप

82. मार्शल. जी. कांस्टीट्यूशनल थ्योरी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1917।

83. मैकाइवर, आर. एम. दी मार्डन स्टेट, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1962।

84. मैकडानेल, ए. ए. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, 1900।

85. रायचौधरी, एच. सी. पालिटीकल हिस्ट्री आफ एनशियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1953।

86. राकहिल लाइफ आफ बुद्धा।

87. रीज डेविडस बुद्धिस्ट इण्डिया, लन्दन, 1903।

88. लास्की हेरेल्ड जे. ए. ग्रामर आफ पालिटिक्स, लन्दन, 1951।

89. लास्की हेरेल्ड जे. दी प्रोब्लम आफ सावरनिटी, न्यू हेवन, 1957।

90. लास्की हेरेल्ड जे. फाउन्डेशन आफ सावरनिटी, एण्ड अदएसेज, न्यूयार्क, 192।

91. सालातोरे, बी. ए. एंशियन्ट इण्डियन पालिटिक्ल थाट, एण्ड इन्सटीट्यूशन्स, बम्बई, 1963।

92. सत्यकेतु विद्यालंकार मौर्य साम्राज्य का इतिहास, मसूरी, 1971।

93. सत्यकेतु विद्यालंकार प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, मसूरी, 1968।

94. सरकार, बी. के. दी पालिटिकल इन्सटीयूशन्स एण्ड थ्योरीज आफ दी हिन्दूज, 1922।

95. सेन, ए. के. स्टडीज इन एनशियन्ट इण्डियन पोलिटिकल थाट, कलकत्ता, 1926।

96. सिन्हा, एच. एन. सावरलनटी इन एनशियन्ट इण्डियन पालिटी, लन्दन, 1938।

97. सिन्हा, एच. एन. — दी डवलैपमैन्ट आफ इण्डियन पालिटी, इलाहाबाद, 1963।

98. सिन्हा, बी. सी. — प्राचीन भारत का इतिहास।

99. स्मिथ, बी. ए. — अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, आक्सफोर्ड 1924।

100. ला, एन. एन. — आस्पैक्ट आफ एनशियन्ट इण्डियन पालिटी, आक्सफोर्ड, 1921।

101. सक्सेना, भूपेशचन्द्र, कु० सविता — गुप्तकालीन भारत, मेरठ, 1969।

102. शर्मा, आर. एस. — प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, दिल्ली, 1977।

102. शुक्ल, देवीदत्त — प्राचीन भारत में जनतन्त्र, इलाहाबाद, 1966।

104. शर्मा, हरिश्चन्द्र — प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, जयपुर।

105. शामा शास्त्री — इवोल्यूवेशन आफ इण्डियन पालिटी, कलकत्ता, 1920।

106. हाब्स, थामस — लेविथियन, आक्सफोर्ड, 1946।

107. हाब्स, थामस — दी पालिटिकल फिलासफी ग्राफ हाब्स, न्यूयार्क, 1936।

108. वर्मा, वी. पी. — स्टडीज इन हिन्दू पालिटिकल थाट एण्ड इटस मैटाफिसिकल फाउन्डेशनस, दिल्ली, 1954।

शोध पत्रिकायें :

1. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, पालिटिक्स एण्ड पालिटिकल हिस्ट्री इन महाभारत, नारायणचन्द्र बनर्जी, वाल्यूम, 1, नं. 3, पृ. 489-500, सितम्बर 1925।

2. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, मिनिस्टरस एज एनशिन्ट इण्डिया, राधा गोविन्द बसाक, वाल्यूम 1 नं. 3 पृ. 522-532, 642, सितम्बर, दिसम्बर 1925।

3. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, द मशीनरी आफ एडमिनिस्ट्रेशन इन कौटिल्य, एन. एन. ला, पृ. 31-38, मार्च, 1930।

4. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, कौटिल्य, पृ. 786, दिसम्बर, 1925।

5. जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, आर्गेनाइजेशन आफ इंडस्ट्रीज इन एन-शियन्ट इंडिया, लल्लन जी गोपाल, पृ. 887-914, दिसम्बर, 1964।

6. इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस 22वां अध्यक्षीय भाषण।

7. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, वाल्यूम-प्रथम।

8. जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना 39।

9. आरकालोजिक्ल सर्वे आफ इण्डिया, रिपोर्ट, 1903-4।

10. इन्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया आफ दी सोशल साइन्सेज (सम्पादित—डेविड एल सिल्स), लन्दन, 1972।

——
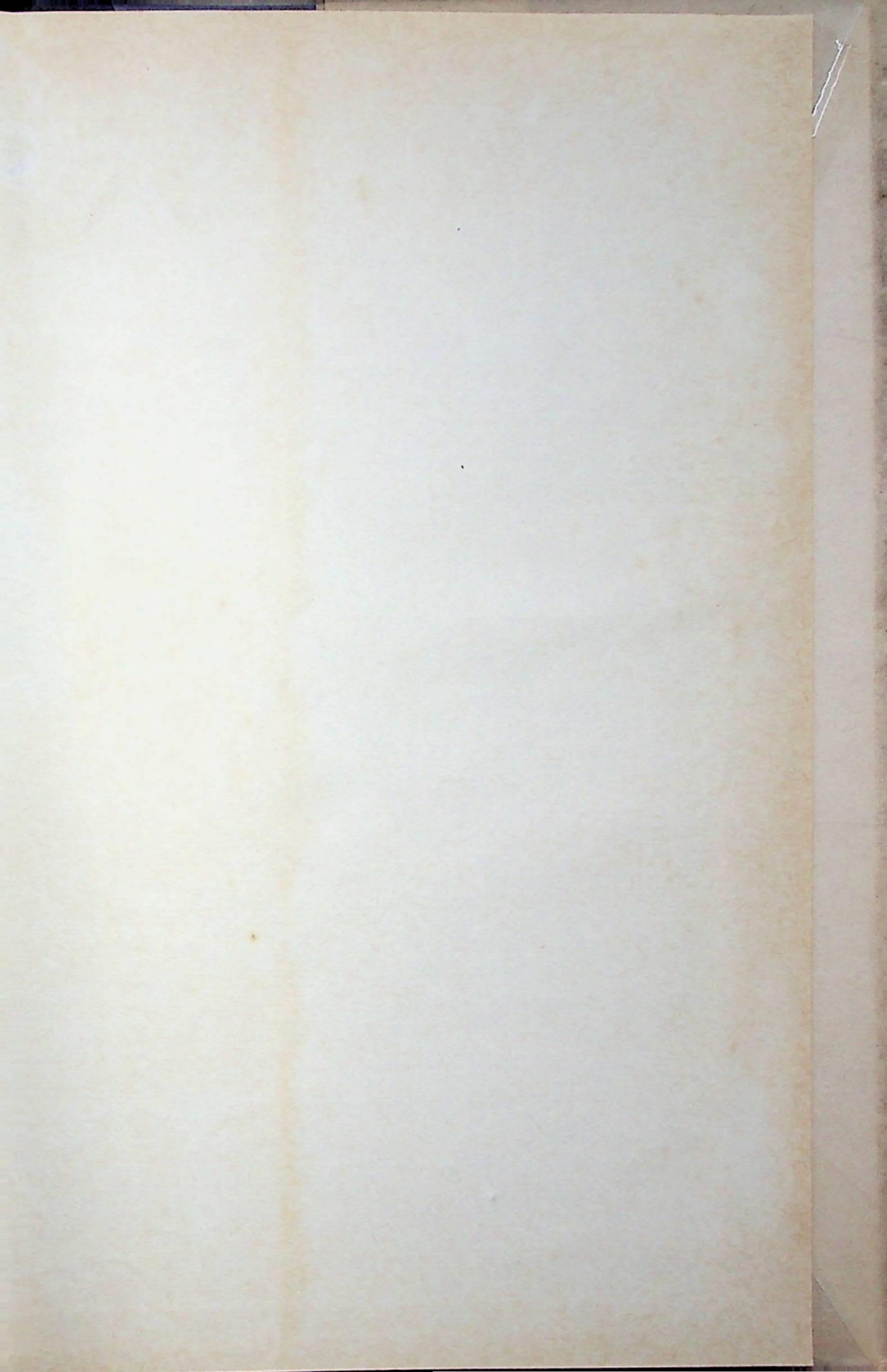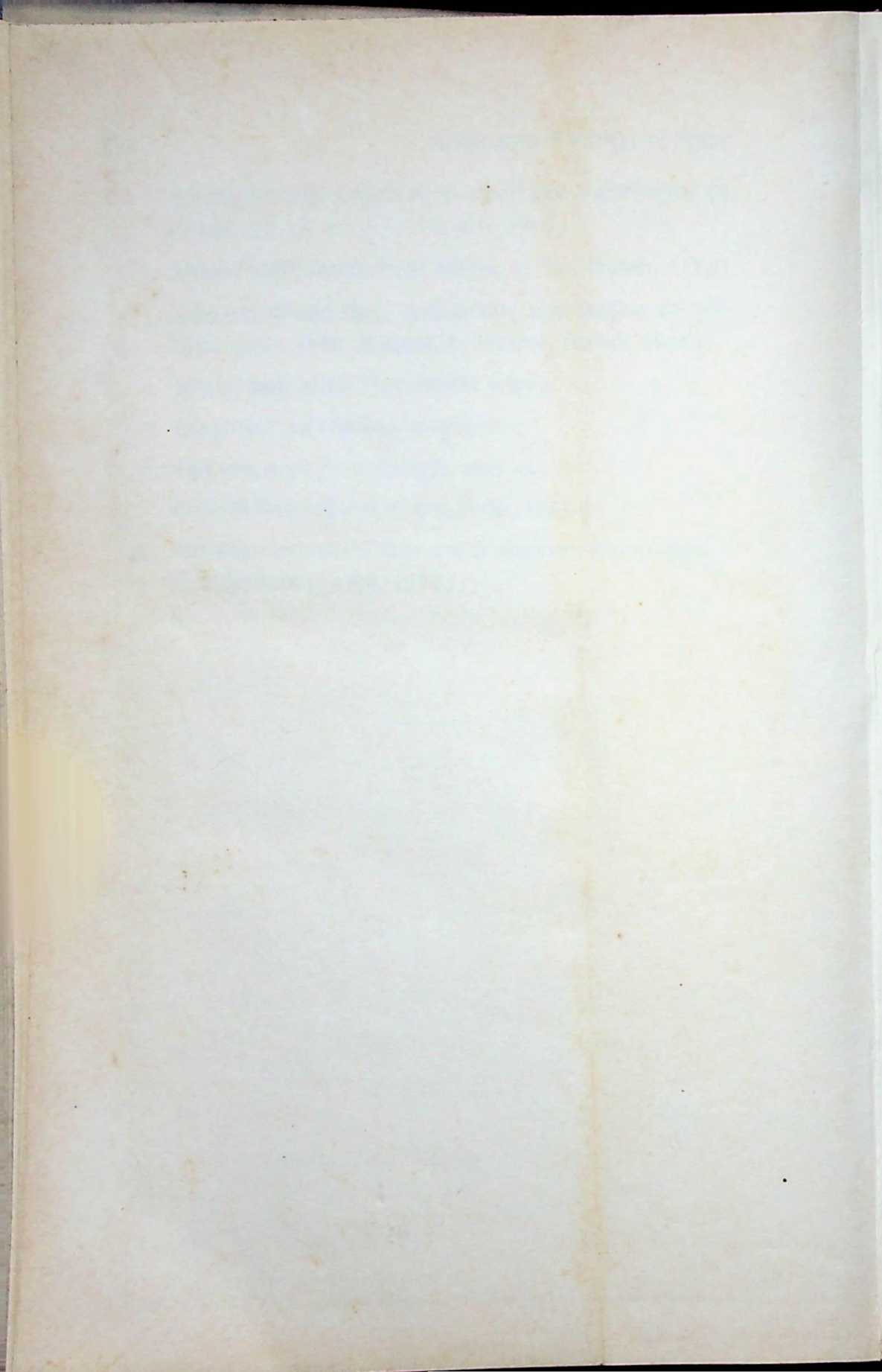
लेखक का परिचय :

डा० राकेश कुमार शर्मा का जन्म 27 नवम्बर सन् 1957 को हरिद्वार में श्री चन्द्र प्रकाश शर्मा, एडवोकेट के परिवार में हुआ। 'मेरठ विश्वविद्यालय' के स्थानीय 'एस० एम० जे० एन० डिग्री कालेज' से सन् 1979 में बी० ए० द्वितीय श्रेणी में किया। 'प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व' विभाग से सन् 1981 में प्रथम श्रेणी में एम० ए० किया। तत्पश्चात् सन् 1985 में उपर्युक्त विश्वविद्यालय से ही 'पी० एच० डी' की उपाधि प्राप्त की।

डा० राकेश शर्मा के लगभग दस शोध-पत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में वर्तमान तक प्रकाशित हो चुके हैं। डा० शर्मा सन् 1984 से गुरुकुल कांगड़ी के प्राचीन भारतीय इतिहास सस्कृति एवं पुरातत्व विभाग में प्राध्यापक के पद पर सेवारत हैं।

175.00 रुपये
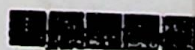
OUR OTHER PUBLICATIONS

Mehdirata S.K.—Law relating to sale of Goods	180.00
Dhar & Dhar—Evolution of Hindu Family Law (Vedas to Vashishtha)	210.00
T. Nath—Politics of the Depressed Classes	200.00
Subramanyam M.—Management of Public Administration	150.00
Mathur R.S.—Relations of Hadas with Mughal Empire	140.00
Shekhar C. & Shama—Muraqqa-e-Delhi	180.00
Shaw P.—Morality & Religion in Advaita & Visistadvaita	260.00
मिश्रा चन्चल—वेदान्त तत्त्व विवेक	125.00
शास्त्री—श्रीमद् भागवतामृतम्	125.00
Mrs. Shashi Prabha & Dr. Varshney—Sri Aurobindo : The Poet	(In Press)

डिप्टी पब्लिकेशन

121-ए, पाकेट बी, दिलशाद गार्डन,
दिल्ली - 110095